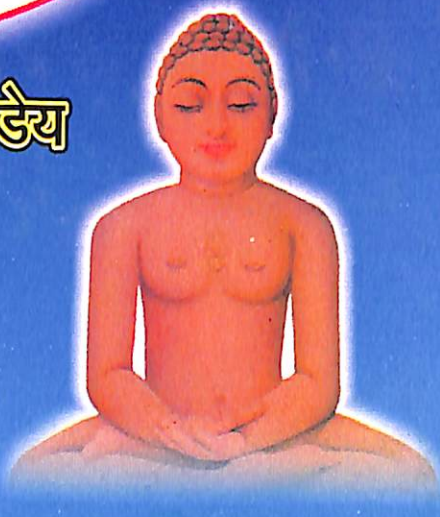


धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्



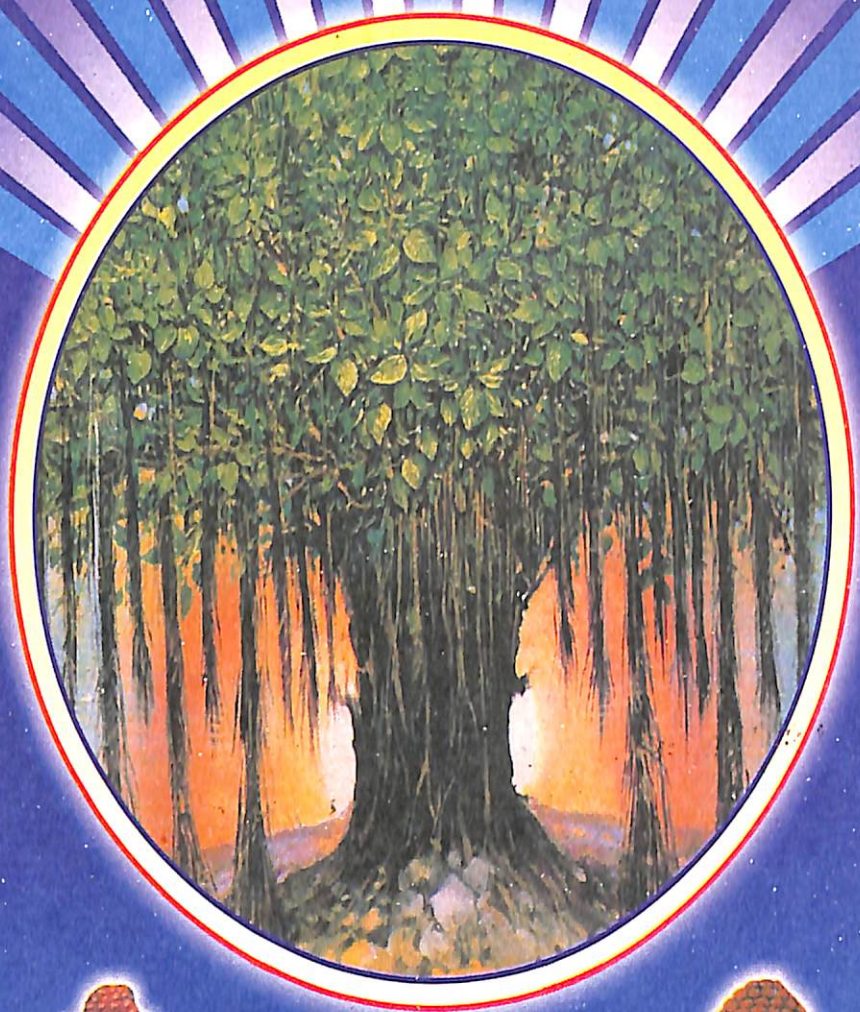
डा. उमा पाण्डेय



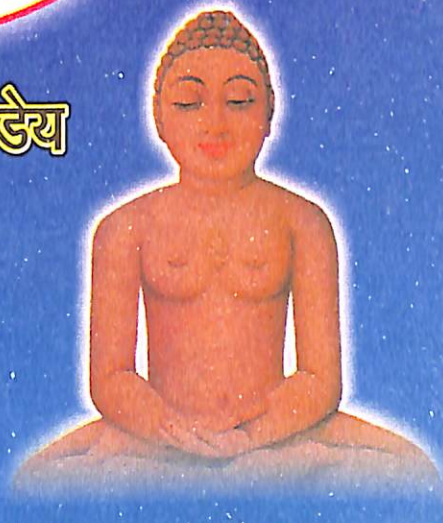
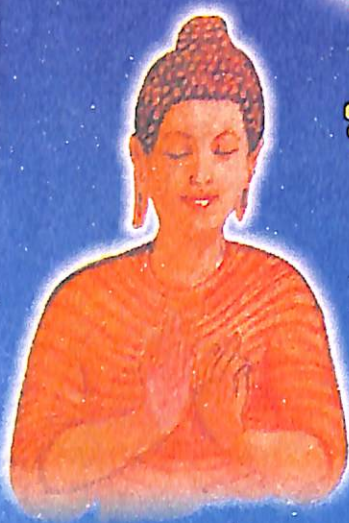
સામાધિ-સામાધિયાઃ ત્રિભુજાત્રિભુજા અદ્યત્રિભુજા

જા. રમા પાપહેય

धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्



डा. उमा पाण्डेय



आइए आइए
देखो देखो
सुनो सुनो-
सुनो सुनो

ਡਾ. ਤਮਾ ਪਾਠਣੀ

ग्रन्थ विषये

शरीरस्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप सच्चिदानंद है। जैन उपदेशों में बन्धन और मोक्ष हेतु हैं। सनातन प्रकृति पूजा वैदिक धर्म के इसी मोक्ष का नाम बौद्ध वचनों में निर्वाण है। दुःख से निवृत्ति एवं परमानंद सच्चिदानंद की प्राप्ति ही ऋषि मुनि संत प्रणीत सत्य का मार्ग है।

बुद्ध तथा महावीर की समाज सुधार की भूमिका महाभारत में पाखण्ड विरोध के रूप में विद्यमान है—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते॥

मनसा वाचा कर्मणा किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देने का 'अहिंसा परमो धर्मः' इस तुलनात्मक अध्ययन में "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति" की पुष्टि करता है।

धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्

नवदिल्लीस्थितराष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानस्य

विद्यावारिधिः (पी-एच्०डी०) इत्युपाधये

स्वीकृतः

शोध-प्रबन्धः

डा० उमा पाण्डेय

एम०ए० (इतिहास), आचार्य (बौद्ध दर्शन)

मार्गनिर्देशकः

डॉ० विजयकुमार जैन

प्रवक्ता-बौद्धदर्शन-विभागः

केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, लखनऊ-२२६०२०

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली द्वारा

प्रदत्त वित्तीय योगदानेन प्रकाशितम्

प्रज्ञा प्रकाशनम्

समन्वय कुटीरम्,

ई-१०५२, राजाजीपुरम्, लखनऊ-२२६०१७

दूरभाष : ४१६८९७

धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्
(Dhammapada-Samanasuttayoh
Tulanatmakam Adhyananam)

प्रकाशक : प्रज्ञा प्रकाशनम्
समन्वय कुटीरम्,
ई-१०५२, राजाजीपुरम्,
लखनऊ-२२६०१७
दूरभाष : ४१६८९७

प्रतिलिप्यधिकारः - पूर्णतः मुक्तः

प्रथम संस्करण : २००० ई० युगाब्द ५१०१ संस्कृतवर्षम्

मूल्यम् : रु० ८२/-

लेज़र टाइपसैटिंग एवं प्रिंटिंग :
ब्रह्मा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-११०००६
दूरभाष : ३२३४६६२

प्राक्कथनम्

श्रीमती उमा पाण्डेय द्वारा रचित एवं राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान द्वारा विद्यावारिधि उपाधि के लिए स्वीकृत 'धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्' ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर अपने दो शब्द लिखते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है।

धम्मपद एवं समणसुत्तम् दोनों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, बौद्ध एवं जैन धर्म की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। जिस तरह से हिन्दू-धर्म के लिए 'गीता' को प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जाता है, उसी तरह से 'धम्मपद' लघु ग्रन्थ का महत्त्व बौद्ध परम्परा में है। जैन परम्परा में इस तरह का ग्रन्थ संकलन पहले नहीं था, इसकी बीसवीं शताब्दी में आचार्य विनोबा भावे को यह आवश्यकता अनुभव हुई। उन्होंने यह दायित्व 'जैन सिद्धान्तकोष' के रचयिता जिनेन्द्रवर्णी को दिया। पूज्य वर्णी जी ने इसका प्रथम संस्करण तैयार किया, जिसे जैन परम्परा के समस्त पन्थों के प्रतिनिधि विद्वानों, सन्तों के सामने रखा गया, कुछ सुझाव एवं संशोधन के बाद 'समणसुत्तम्' नामक यह ग्रन्थ मान्य हुआ। इस प्रकार धम्मपद एवं समणसुत्तम् नामक ग्रन्थों की तुलना से बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म की तुलना हो जाती है। धम्मपद का महत्त्व स्वयं भगवान् बुद्ध ने प्रतिपादित करते हुए कहा था कि—

“यो गाथा सतं भाखे अनत्थपदसंहिता।

एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति॥”

अर्थात् जो व्यर्थ के पदों से युक्त सौ गाथाएँ भी बोले, उससे एक धम्मपद भी श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शांति होती है—धम्मपद, ८/६।

धम्मपद पालि भाषा में लिखित है तथा सभी बौद्ध सम्प्रदायों को मान्य है। यह त्रिपिटक के अन्तर्गत खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों में से एक है, जिसे 'बुद्धवचनामृत' कहा जाता है।

धम्मपद एवं समणसुत्त, श्रमण संस्कृति की जीवित दो धाराएं— बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। श्रमण संस्कृति का भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वैदिक एवं श्रमण संस्कृति भारतीय संसद के पक्ष-विपक्ष के रूप में सदा भारतीय जनमानस के विकास में लगे रहे। इनके परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण गुणात्मक सुधार हुआ। जिस तरह विपक्ष 'सत्ता' पक्ष को संतुलित बनाए रखता है तथा प्रजातन्त्र का आधार-स्तम्भ माना जाता है, उसी तरह भारत में श्रमण एवं वैदिक संस्कृति से हमारी परम्पराएं खूब मजबूत हुईं। दोनों संस्कृतियां पूरी तरह भारतीय हैं एवं भारत के विकास में इनका अमूल्य योगदान है। अतः भारतीय संस्कृति को पूरी तरह समझना है तो वैदिक संस्कृति के साथ श्रमण संस्कृति की जैन एवं बौद्ध परम्परा को भी जानना होगा। भगवान बुद्ध ने अपना जीवन 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' में बिता दिया उसी तरह जैन परम्परा का मूल सिद्धान्त ही है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् परस्पर में एक-दूसरे का उपकार करना ही जीवों का कर्तव्य है। जैन धर्म को 'सर्वोदय तीर्थ' कहा जाता है। धम्मपद में बुद्धशासन वर्णित है—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानसासनम्॥

इसी तरह श्रमण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

यो च समेति पापानि अणु थूलानि सन्वसो।

समितत्ता हि पापानं समणोति पवुच्चति॥

'धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्' नामक ग्रन्थ में विदुषी लेखिका ने दोनों ग्रन्थों की शिक्षाओं का प्रतिपादन करते हुए समानता के पक्षों को उजागर किया है। जैन एवं बौद्ध परम्परा की पृष्ठभूमि बहुत कुछ एक है, जिसमें समानता पाई जाना स्वाभाविक है। संस्कृत भाषा में लिखा गया यह शोध प्रबन्ध जैन, बौद्ध परम्परा

के तुलनात्मक अध्ययन के लिए जहाँ प्रामाणिक एवं आधारभूत ग्रन्थ सिद्ध होगा, वहीं पर संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि भी करेगा।

डॉ० (श्रीमती) उमा पाण्डेय एवं उनके विद्वान् पति डॉ० कृष्ण नारायण पाण्डेय, उप-निदेशक, आकाशवाणी महानिदेशालय, नई दिल्ली, भारतीय विद्या के विकास में समर्पित दम्पति हैं। श्री पाण्डेय जी की “हम मानव हैं पृथ्वीवासी” सदृश २० रचनाएँ प्रकाशित भी हैं तथा आप सभी धर्मों के समन्वय के लिए हमेशा प्रयास करते रहे हैं। इस रचना में भी दो धर्मों की नजदीकियाँ उजागर हुई हैं। लिंग, रंग, जाति, भाषा, देश, क्षेत्र, सम्प्रदाय, पद, वाद तथा स्तर इन दस आधारों पर मनुष्य मनुष्य में भेदभाव न करते हुए; पासपोर्ट, बीजा, कस्टम, पेटेण्ट एवं कापीराइट की बाधाओं से रहित पृथ्वी एक परिवार की संकल्पना के क्रियान्वयन के ध्येय से मानवता HUMANITY अभियान प्रारम्भ किया है। इसका मित्रता शुल्क है—प्रतिवर्ष कृक्षारोपण तथा प्रतिदिन शक्य परोपकार। मैं शुभकामना करता हूँ कि यह दम्पति इसी प्रकार आगे भी साहित्य-सेवा करता रहे। पुनश्च मैं अपने निर्देशन में लिखे इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर लेखिका श्रीमती पाण्डेय को बधाई देता हूँ कि गृहकार्य में व्यस्त होकर भी समाज को उन्होंने अपनी यह अमूल्य कृति दी।

भवतु सब्ब मंगलम्।

संस्कृत वर्ष, २०००
महावीर जयन्ती

-डा० वियज कुमार जैन
अध्यक्ष-बौद्ध दर्शन विभाग
केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
गोमती नगर, लखनऊ।

ग्रन्थ के विषय में

धम्मपद और समणसुत्त का तुलनात्मक अध्ययन आज की आवश्यकता है। योरोपीय विद्वानों ने जो अध्ययन का क्रम प्रारम्भ किया उस अध्ययन का क्रम आज आगे बढ़ाया जा रहा है। एक समय था जब बुद्ध को ऐतिहासिक पुरुष भी नहीं माना जाता था। ओल्डनवर्ग आदि विद्वानों की राय थी कि बुद्ध बौद्धों की कल्पना की उपज थे। इस प्रकार का कोई व्यक्ति उत्पन्न भी नहीं हुआ था। बौद्ध धर्म के हास का इतना व्यापक प्रभाव था कि सदियों तक भारतीय उसे भूल चुके थे। यह योरोपीय विद्वानों के प्रयास का ही फल था कि बुद्ध और बौद्ध ग्रन्थ प्रकाश में आने लगे। उन्होंने ही बौद्ध विद्या (Buddhist Studis) नामक शास्त्र को एक स्वरूप दिया और आज भारत के विश्वविद्यालयों में भी उसे स्थान मिला।

बौद्ध वाङ्मय के ग्रन्थों में धम्मपद का स्थान प्रमुख है। धम्मपद भगवान् के द्वारा अनेक स्थलों पर कही गई अनेक गाथाओं का संकलन है। उसकी लोकप्रियता ने जैन विद्वानों को प्रेरित किया कि उसी प्रकार का कोई संकलन उनके पास भी हो, जो लोगों को पठन, मनन आदि में उपयोगी हो। समणसुत्त का अस्तित्व में आना एक अपूर्व घटना है। इसके संकलन में जैनों की सामूहिक भावना ने बड़ा काम किया और सारे सम्प्रदायों की मूल भावना इसके मूल में है। इस प्रकार विदुषी लेखिका ने धम्मपद और समणसुत्त को अपने अध्ययन का विषय बनाकर अध्ययन के क्रम में एक कड़ी को और जोड़ दिया है।

भारत व भारत के समीपवर्ती देशों में प्राचीन काल से ही संस्कृति की दो धारायें प्रवाहित हो रही थीं—श्रमण और ब्राह्मण। डॉ० उमा पाण्डेय ने श्रमण संस्कृति धारा पर लेखनी उठाकर एक बड़ा कार्य किया है। ब्राह्मण परंपरा में पत्नी-पोसी श्रीमती पाण्डेय ने श्रमण संस्कृति के दो मुख्य ग्रन्थों को अपने अध्ययन का आधार बनाया यह अपने आप में स्तुत्य कदम है।

श्रमणों के आचार में, उनके सिद्धान्तों में साम्य भी था वैषम्य भी। वैषम्य के होने पर भी उन्होंने श्रमण परंपरा को आगे बढ़ाया और आज भी उसे जीवित रखा है। यह सब विद्वानों के सतत प्रयास से ही संभव हो पाता है।

ब्राह्मण परंपरा के बारे में जैनों व बौद्धों और श्रमण परम्परा के अन्य मतावलम्बियों में प्रायः एक प्रकार की ही भावना रही है। श्रेष्ठ ब्राह्मणों के प्रति उन्होंने हमेशा आदर का भाव व्यक्त किया है। यहाँ तक कि ब्राह्मण शब्द को अपनी पदावली में भी शामिल कर लिया। धम्मपद के ब्राह्मणवग्गो उसी भावना का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ 'ब्राह्मण' का अर्थ 'अर्हत्' (परिभाषा में 'अरहन्त') है, अर्थात् वह साधक जो पूर्णता को प्राप्त कर चुका है, जिसने अपने सारे संक्लेशों को नष्ट कर दिया है, जिसने राग, द्वेष, स्नेह नाम वाले तीन अकुशल कर्मों को समाप्त कर दिया है। इसी प्रकार जैन परंपरा में भी ब्राह्मण शब्द को आत्मसात् करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में लोगों की समझ बढ़ाने और दूसरे कर्मों के सिद्धान्तों और आचार नियमों आदि को समझने में जो योगदान करेगा, यही विदुषी लेखिका के लिए सन्तोष का विषय होगा और वही उनका पारितोषिक होगा। आशा है प्रकाशन के बाद यह ग्रन्थ लोगों में प्राचीन काल के ग्रन्थों व परंपराओं को समझने में उपयोगी भूमिका अदा करेगा।

—डॉ० संघसेन सिंह

पूर्व आचार्य व अध्यक्ष,

बौद्ध विद्या विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

निवास स्थान : १९९, वैशाली, पीतमपुरा

दिल्ली-११००३४ दूरभाष : ७४२९५८३

भूमिका

भारतीय संस्कृतेः विकासे श्रमण संस्कृतेः महत्त्वपूर्ण-योगदानं वर्तते। अद्य श्रमणसंस्कृतेः धारा द्वयं बौद्धः जैनः च। बौद्ध-जैनयोः समानतायाः विभिन्नपक्षेषु विद्वान्सः सहमताः सन्ति। बौद्ध-जैनयोः साहित्ययोः लोकभाषायै अपि महत्त्वं प्रदत्तम्। उद्देश्यस्य समानतायाः लोकभाषायाः प्राथमिकतायाः च कारणात् द्वयोः धर्मयोः अतिसाम्यं वर्तते।

लोकप्रचलितप्रवृत्तिः समणसुत्तस्य स्यादवाद-समन्वयवादे वर्णिता “स्वकं स्वकं प्रशंसन्तः, गर्हयन्तः परं वचः।” “एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति” इति मंत्रानुसारं सत्यानुसंधानाय तुलनात्मकम् अध्ययनम् अपेक्षते।

“नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन।

अवैरेण च शाम्यन्ति, एष धर्मः सनातनः॥”

भगवतः बुद्धस्य धम्मपदस्य इदं वचनं प्रकारान्तरेण विश्वस्य समस्त धर्मसम्प्रदायेषु सदुपदेशरूपेण प्रचलितं वर्तते। सर्वजीवेषु समदर्शनम् एव सम्यक् दृष्टिः कथिता-सनातन धर्मे-

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

X X X

मातृवत् परदारेषु, पर द्रव्येषु लोष्ठवत्।

आत्मवत् सर्व भूतेषु, यः पश्यति स पश्यति॥

तुलनात्मक-सर्व-धर्म-समन्वये नेत्रहीनैः गजदर्शनवर्णनं प्रायः क्रियते। सत्यज्ञानाय सम्पूर्ण-गजस्वरूप दृष्टिः एव सम्यक्दर्शनं सत्यधर्मः वा कथयितुं शक्यते। तथ्यमिदं समणसुत्ते प्रतिपादितम्-

यत्पुनः समस्त पर्याय-वस्तुगमका इति समुदितास्तेन।

सम्यक्त्वं चक्षुष्मन्तः, सर्वगजावयवग्रहण इव॥

“अहिंसा परमोधर्मः” इति मंत्रस्य क्रियान्वयनं सर्वाधिकं जैनबौद्ध-दर्शन-द्वये प्रतिपादितं वर्तते। अतः जैन-बौद्ध-दर्शन-तुलनार्थं श्रमणसुत्तस्य धम्मपदस्य च तुलनात्मकस्य अध्ययनस्य विचारः कृतः।

प्राचीन-साहित्ये पण्डितः विद्वान् ब्राह्मणः विप्रः द्विजः इति शब्दाः ज्ञानी शब्दस्य पर्यायाः वर्णिताः यथा—

जन्मना जायते शूद्रः, संस्कारात् द्विज उच्यते।

वेदज्ञानात् भवेत् विप्रः ब्रह्मज्ञानात् ब्राह्मणः॥

इदं तथ्यं धम्मपदस्य ब्राह्मणवर्गेऽपि प्रति पादितम्—

न जटाभिर्न गोत्रैर्न जात्या भवति ब्राह्मणः।

यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः॥

एवमेव—

यस्य कायेन वाचा मनसा नास्ति दुष्कृतम्।

संवृतं त्रिभिः स्थानैः, तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥

समणसुत्ते अपि एवमेव सत्य मानधर्मस्य व्याख्या प्राप्यते—

नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः न ओंकारेण ब्राह्मणः।

न मुनिररण्यवासेन, कुश-चीरेण न तापसः॥

समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।

ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः॥

धम्मपदं समणसुत्तं च

धम्मपदं भगवतः बुद्धस्य प्रवचन रूपं त्रिपिटकग्रन्थे संगृहीतं वर्तते। जैनदर्शनस्य सार-रूपं समणसुत्तं (श्रमण-सूत्रम्) आधुनिकं सम्पादितं संकलनं वर्तते। समणसुत्तस्य गाथानां मूल स्रोत विवरणं श्रद्धेय श्री जमनालाल जैन अभय-कुटीरम्, सारनाथ वाराणसी, महोदयस्य अभिज्ञाने वर्तते।

भगवतः बुद्धस्य वाणी गाथा रूपे भिक्षुभिः स्मरणं क्रियते स्म। तासां पाठः क्रियते स्म। इदमेव धम्मपद-रूपे प्रसिद्धम्।

एवमेव समणसुत्तस्य गाथाः बहुप्रसिद्धाः वर्तन्ते। विविध संकलनेषु दृष्ट्वा संकलनं कृतमिदम्।

निर्विवादः

वर्तमाने जैन-बौद्ध-परम्परायां अनेकाः सम्प्रदायाः उपसम्प्रदायाः वर्तन्ते। तथा विषमतायाम् ऐक्यभाव-ग्रन्था सन्ति धम्मपदं समणसुत्तं च। एषु ग्रन्थेषु संकलित-सामग्री कस्यापि एकस्य सम्प्रदाय-विशेषस्य नास्ति। केनापि सम्प्रदायेन सह एतेषां विरोधो नास्ति। एवं निर्विवाद रूपम् अस्य ग्रन्थद्वयस्य वैशिष्ट्यं वर्तते।

शोध प्रबंधे प्रथमे अध्याये जैन दर्शनस्य बौद्धदर्शनस्य च सामान्य परिचयः प्रदत्तः।

द्वितीये अध्याये धम्मपदग्रन्थस्य समणसुत्तपुस्तकस्य च परिचयः, तत्र प्रतिपादितशिक्षाणां च वर्णनं कृतम्।

तृतीये अध्याये धम्मपदस्य समणसुत्तस्य च तुलनात्मकम् अध्ययनं प्रस्तुतम्। अस्मिन् धार्मिक तथ्यानां एवं विषयाणां विवेचनं कृतम् धर्म-ब्राह्मण-गुप्ति-समिति-त्रिशरण-भिक्षु-पाप-पुण्य-तप-तृष्णा-कषाय-क्रोध-पंचमहाव्रत-अप्रमाद-अनाशक्ति-अपरिग्रह-अहिंसा-साधना-मार्गश्च। एतेषु सर्वेषु समानता अधिका विभिन्नता अल्पा प्राप्यते।

चतुर्थे अध्याये तुलनात्मके अध्ययने दार्शनिक परम्परा प्रस्तुता। अस्मिन् सम्यकदर्शनम् निर्वाणः, मनः, कर्मः, निवृत्तिप्रवृत्तिमार्गः दुखं समत्वयोगश्च विवेचिताः।

पंचमे अध्याये उपसंहारे शोध सारांशः प्रस्तुतः।

अयं शोधप्रबन्धः मम सीमितज्ञानस्य सीमित साधनानां च परिणामः वर्तते। अस्य साफल्यनिर्णयः विद्वत् जनैः करिष्यते।

आशीर्वचनम्

‘धम्मपदसमणसुत्तयोः तुलनात्मकमध्ययनम्’ इति संज्ञकं निबन्धं पठितवानहम्। नूनं हि कृत्यमिदं श्रमणसंस्कृतीनामैकतापादकमिति। अस्मिन् हि निबन्धे यथा धम्मपदस्य अनित्य-एकत्व-अनात्मत्व-अर्हत्व-जातिबाधामाः संसारस्य अनित्यात्वादिकं प्रदर्शितं तथैव श्रमणसुत्तस्य, निर्वैरतायाः, शीलस्य, सत्संगतेः, नीतेः, अनिन्दायाः कार्यविपाकस्य च कार्यं संसाधितम्। इत्थं जैनबौद्धयोः धारयोः साम्यं नीतिपरकत्वं च समीक्ष्य लोकस्य हितमवेक्षितं श्रीमती उमा पाण्डेयया।

मन्ये विनोबाभावे महोदयेन यथा धर्म सम्प्रदाय समन्वयः कृतः तथैव डॉ० उमापाण्डेया समणसुत्तमधिकृत्य कृतप्रयत्नेन भारतस्य एकत्वं संस्कृतेः तथा साधितं यथा हि पूर्वं रिक्तमिव। अनेन शोधेन सत्यम् एकम् सर्वदा इति प्रमाणितम्। धर्मपद-श्रमणसुत्त-भवद्गीता भारतीय संस्कृतेः आधारभूता ग्रन्थाः सन्ति इति अनेन शोधनिबन्धेन पूर्णता संसाधिता अनुसांधात्र्येति। शुभम्।

—प्रो० राधेश्यामधर द्विवेदी

अध्यक्षः तुलनात्मकधर्मदर्शनम्

संपादकः प्रकाशकश्चः—गाण्डीवम्

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,

वाराणसी-२२१००२

अनुक्रमणिका

प्राक्कथनम्	(iii)
ग्रन्थ के विषय में	(vi)
भूमिका	(viii)
आशीर्वचनम्	(xi)
प्रथमोऽध्यायः	१-३२
जैन-बौद्धधर्मयोः सामान्यः परिचयः	
१.१.० जैनधर्मस्य	१
१.२.० जैनधर्मस्य सिद्धान्ताः	५
१.३.० बौद्धधर्मस्य सामान्य परिचयः	१५
१.४.० बौद्धधर्मस्य सिद्धान्ताः	१९
१.५.० जैन-बौद्धधर्मयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्	२८
द्वितीयोऽध्यायः	३३-७०
धम्मपद-समणसुत्तयोः सामान्यः परिचयः विषयवस्तुः च	
२.१.० धम्मपदस्य परिचयः	३३
२.२.० समणसुत्तस्य परिचयः	५४
तृतीयोऽध्यायः	७१-१५८
धम्मपद-समणसुत्तयोः धर्माणां तुलनात्मकम् अध्ययनम्	
३.१.० धर्मः	७१
३.२.० साधना मार्गः	८१
३.३.० गुप्तयः समितयः च	८८
३.४.० त्रि-शरणम्	९४
३.५.० भिक्षुः	९८
३.६.० पाप-पुण्यम्	१०५

३.७.०	तपः	१११
३.८.०	तृष्णा	११४
३.९.०	कषायः	१२२
३.१०.०	क्रोधः	१३०
३.११.०	पंचमहाव्रतम्	१३३
३.१२.०	अप्रमादः	१४४
३.१३.०	अनासक्तिः/अपरिग्रहः	१४८
३.१४.०	अहिंसा	१५२

चतुर्थोऽध्यायः

१५९-२०६

धम्मपद-समणसुत्तयोः दार्शनिक सिद्धान्तानां तुलनात्मकम् अध्ययनम्

४.१.०	सम्यक-दर्शनम्	१५९
४.२.०	निर्वाणम्	१६५
४.३.०	मनः	१७३
४.४.०	कर्म	१७९
४.५.०	निवृत्ति मार्गः प्रवृत्तिमार्गश्च	१८६
४.६.०	दुःखम्	१९०
४.७.०	समत्त्व योगः	१९३
४.८.०	ब्राह्मणः	१९५

पंचमोऽध्यायः

२०७-२०९

उपसंहारः

२०७

परिशिष्टम्

२१०-२५०

१.	जैन शासनम्	२१०
२.	बुद्ध दर्शनम्	२२९
३.	सहायक ग्रन्थ सूची	२४७



बौद्ध-जैन धर्मयोः सामान्य परिचयः

१.१.० जैनधर्मस्य सामान्यः परिचयः

जैनशब्दस्य उत्पत्तिः 'जिन' शब्दतः जाता। जिनशब्दस्य अर्थः जेता विजयकर्ता इति वर्तते। येन स्व-इन्द्रियविषयेषु विजयः प्राप्तः स एव जैनः। जैनधर्मप्रचारकैः स्वयमेव सम्यग्ज्ञानेन, सम्यग्दर्शनेन सम्यगाचरणेन च जिनत्वं सम्प्राप्य तपस्चर्यायाः आचरणं कृत्वा केवलज्ञानं प्राप्तम्। एतदर्थं ते जिनाः सर्वज्ञाः कथिताः। तैः प्रथमं इन्द्रियविजयः कृतः तत्पश्चात् केवलज्ञानं प्राप्तम्। जिनद्वारा प्रशिक्षित धर्मः जैन-धर्म इति कथितः। (जैनधर्म, कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृ. ६५)

षष्ठं शताब्दि-ईस्वी पूर्वं धार्मिकक्रान्तिविचारे जैन धर्मस्य विशिष्टं योगदानं वर्तते। अयं धर्मः तत्कालिक-धर्म-सम्प्रदायेषु प्रमुखः। अस्य प्रभावः भारतवर्षस्य धार्मिकजीवने पर्याप्तरूपेण वर्तते। यद्यपि बौद्धधर्मसदृशः जैनधर्मः कदापि देशव्यापी धर्मः न संजातः अस्य विदेशेषु अपि प्रचारः नाभूत् तथापि इदं महत्त्वपूर्णं यत् अयं स्वजन्मभूमिभारते बौद्धधर्मतुलनायाम् अधिकं चिरस्थायित्वं भजति। अद्य बौद्धधर्मः भारते लुप्तप्रायः परन्तु जैनधर्मानुलम्बिनः पर्याप्तसंख्यायां वर्तन्ते। देशे स्थाने-स्थाने जैनमंदिराणि सन्ति। समये-समये तेषां धार्मिकपर्वाणि समयोज्यन्ते। एतैः कारणैः भारतवर्षे अद्यापि जैन-धर्मस्य सुदीर्घं परम्परा पर्याप्त रूपेण सबला विद्यते।

१.१.१ प्राचीनता

जैनधर्मस्य इतिहासः प्राचीनः वर्तते। कतिपय विद्वद्भिः जैनधर्मः प्रागैतिहासिकः इति प्रतिपादितः। तैः अस्य सम्बंधः मोहनजोदड़ो समुत्खनने प्राप्य योगिमूर्तिना प्रतिपाद्यते। एवमेव ऋग्वेदे लिखित तपस्विनां सम्बंधः जैन श्रमणैः सह स्थाप्यते। वैदिक साहित्ये जैन

तीर्थकराणां नामानि आभासयन्ते। भागवतपुराणस्य स्वायम्भुव मनु प्रपौत्र नाभि पुत्र ऋषभदेवः प्रथम तीर्थकरः प्रसिद्धः। अतः श्रमण विचारधारा अति प्राचीना अस्ति।

१.१.२ जैन तीर्थकरः

जैन धर्म संस्थापक-जितेन्द्रिय ज्ञान प्राप्त महात्मानाम् उपाधिः तीर्थकर अस्ति। तीर्थकर शब्दः 'तीर्थ' शब्देन विनिर्मितः यस्य अर्थः तत् निमित्तेन अस्ति यत् मनुष्यं संसार सागरात् पारं करोति। अस्य निमित्तस्य निर्माता तीर्थकर इति कथ्यते। जैन साहित्यानुसारं जैन धर्मस्य तीर्थकराः संजाताः। ते सन्ति-१. ऋषभः, २. अजितः, ३. सम्भवः, ४. अभिनन्दनः, ५. सुमतिः, ६. पद्मप्रभुः, ७. सुपार्श्वः, ८. चन्द्रप्रभः, ९. सुविधिः, १०. शीतलः, ११. श्रेयांसः, १२. वासुपूज्यः, १३. विमलः, १४. अनन्तः, १५. धर्मः, १६. शान्तिः, १७. कुन्थः, १८. अरहः, १९. मल्लिः, २०. मुनिसुव्रतः, २१. नमिः, २२. नेमिः, २३. पार्श्वः, २४. महावीर स्वामी।

प्रथम तीर्थकर ऋषभदेवस्य समये जनाः प्रायः असभ्याः आसन्। भोजनं पक्वं करणाय अग्निप्रयोग ज्ञानम् अपि नासीत्। ते पूर्णतः निरक्षराः आसन्। विवाह संस्थायाः अपि प्रादुर्भावः नासीत्। जनाः मृतकानां शवं पशुपक्षिणां भोजनाय ददत् स्म। भूमि समाधिः वा शवदाहो न क्रियते स्म।

द्वितीय तीर्थकर अजितनाथस्य यजुर्वेदे नामोल्लेखः वर्तते। त्रिविंशततमः तीर्थकर पार्श्वनाथः प्रसिद्धः इतिहासपुराणे। जैन साहित्यानुसारं ब्राह्मणसाहित्येऽपि अस्य उल्लेखः वर्तते। भारतस्य पौराणिक परम्परायां भगवतः चतुर्विंशति-अवतारेषु पार्श्वनाथस्य गणना क्रियते।

जैनसाहित्ये पार्श्वनाथस्य अनेकाः अनुयायिनः वर्णिताः। महावीर स्वामिनः मातापितरौ अस्य पार्श्वनाथस्य शिष्याः महावीर स्वामी समयेऽपि विद्यमाना आसन्। इमे निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते स्म। सांसारिकबन्धन विमुक्तिकारणात् एव तेषाम् इयम् उपाधिः जाता।

जैन साहित्यस्य अध्ययनेन इदं स्पष्टं भवति यत् पार्श्वनाथ समये निर्ग्रन्थ सम्प्रदायः सम्यक्-संगठितः आसीत्। अस्मिन् सम्प्रदाये चतुरगणानां स्थापना कृतासीत्। प्रत्येक गणः एकस्य गणधरस्य नेतृत्वे कार्यं करोति स्म (कल्पसूत्र, ६.१६०)। तीर्थंकर पार्श्वनाथस्य अनुयायिनेषु स्त्रियः पुरुषाः सर्वे आसन्।

जैन साहित्ये पार्श्वनाथस्य कतिपय सिद्धान्तेषु प्रकाशः कृतः। पार्श्वनाथमहोदयैः ब्राह्मणानां देववादस्य यज्ञवादस्य च विरोधः कृतः। वेद प्रामाण्यं न स्वीकृतं तैः, सहैव हिंसात्मकयज्ञानां विरोध अपि कृतः। जाति व्यवस्थायां विश्वासः न कृतः, तेषां विचारानुसारं सर्वे मोक्षाय सामर्थ्यवन्तः वर्तन्ते। स्वधर्मे महिलाः दीक्षिताः कृत्वा स्व-उदारमनोवृत्ति परिचयः प्रदत्तः। अहिंसा विषये विशेष ध्यानं दत्तम्। भिक्षु जनेभ्यः चतुर्व्रताणां व्यवस्था दत्ता। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ. २६४, विमलचन्द्र पाण्डेय)।

- (१) अहं जीवित प्राणिनां हिंसां न करिष्यामि,
- (२) अहं सदैव सत्य भाषणं करिष्यामि,
- (३) अहं किमपि सम्पत्ति संग्रहणं न करिष्यामि,
- (४) अहं ब्रह्मचर्यं पालनं करिष्यामि।

चतुर्विंशतितम तीर्थंकर-महावीर-स्वामी प्रादुर्भावात् पूर्वमेव जैनधर्मः सम्यक् तरत्वेन संगठित आसीत्। भिक्षुभिक्षुणी विधि निषेधः, निश्चित जीवन यापनं संधस्थापनं च सर्वं व्यवस्थापितम् आसीत्। स्वामी महावीरं प्राचीन जैन धर्मस्य सुधारकम् एवं कथयितुं शक्यते। अद्यावधिः सर्वे तीर्थंकराः क्षत्रियवंशो एव उत्पन्नाः जाताः अतः इन्द्रेण महावीर स्वामी ब्राह्मणी देवानंदायाः गर्भात् क्षत्राणी त्रिशला गर्भे स्थानांतरितः (कल्पसूत्रम् सूत्र कृतांग अनुसारेण)। अनेन तत्कालिक ब्राह्मण क्षत्रिय वर्गयोः सामाजिक प्रतिष्ठार्थं पारस्परिक-प्रतिस्पर्धा दृश्यते।

महात्माबुद्ध सममेव महावीर स्वामी जन्म समयेऽपि दैवज्ञेन

भविष्यवाणी कृता-अयः शिशुः चक्रवर्ती राजा भविष्यति वा परमज्ञानी भिक्षुः। (कल्पसूत्रम् सूत्र कृतांग अनुसारेण)

प्रारम्भे वर्धमानमहावीर-जीवनं राजकीय समृद्धिविलास परिपूरितम् आसीत् बाल्यकाले राज्योचित शिक्षा प्राप्ता तेन। तस्य विवाहः राजकुमारी यशोधरया सह संजातः। यदा वर्धमानः ३० वर्षीयः जातः तस्य पिता सिद्धार्थः दिवंगतः। वर्धमानस्य अग्रजभ्राता राजा जातः। महावीर स्वभावः प्रारम्भतः चिन्तनशीलः आसीत् अतः स्व अग्रजस्य अनुमतिं सम्प्राप्य गृहत्यागं कृतवान् जैन-भिक्षुः च जातः। ततः ज्ञानप्राप्त्यर्थं कठिन तपस्यारम्भः कृतः तेन। कल्पसूत्रे अस्य वर्णनं विस्तारेण वर्तते-भिक्षु महावीरेण एक वर्षम् एक मासं च वस्त्रधारणं कृतम्। ततः पूर्णतः नग्नः सः जातः। सः भोजनं करतले करोति स्म। द्वादशवर्ष पर्यन्तं शरीरस्य उपेक्षां कृत्वा कष्ट सहनं कृतम्। तेन संसारस्य समस्त बन्धनानाम् उच्छेदः कृतः। संसारात् सः पूर्णतः निर्लिप्तः जातः। आकाश सदृशं तस्मै कस्यापि आश्रयस्य आवश्यकता नासीत्। वायुसदृशं सः निर्बाधः जातः। शरदकाल जलमिव तस्य हृदयं विमलं जातम्। कमलपत्रमिव अनाशक्तः सः जातः। कच्छपसदृशं तेन इन्द्रियनियंत्रणं कृतम्। गैंडा शृंग सदृशम् सः एकाकी भूतः। पृथ्वी सदृशं सः स्वतंत्रः जातः।

एवमेव आचारांग-सूत्रे वर्णितम्। एक वर्ष एक मासं तेन एकमेववस्त्रधारणं कृतम्। परिणामे तद् वस्त्रं जीर्णं भूत्वा पतितम्। ततः वर्धमानः नग्नः तपोरतः। तस्य नग्नशरीरे कीटाः आरोहन्ति स्म तं कर्तन्ति स्म तथापि सः उदासीनः एव आसीत्। यदा ध्यानमग्नः नग्नः सः इतस्ततः भ्रमति स्म बालकवृन्दाः तं अनुधावन्ति स्मः कोलाहलं कुर्वन्ति स्म ताडयन्ति अपि स्म। वहवाः दुःष्टा तं लगुडेन पीडयन्ति स्म तथापि सः निर्लिप्तः पूर्णमौनः शान्तः आसीत्।

अनेन प्रकारेण द्वादशवर्षीय कठोर चर्यायाः पश्चात् जम्भिग्राम (जुम्भिक) समीपे उज्जुवालिया सरिता तटे महावीरेण केवल्य ज्ञानं

प्राप्तम्। तदा केवलिन इति उपाधिः तेन प्राप्ता। तेन इन्द्रियजयः कृतः अतः “जिन” (जिन शब्द प्रयोगः महात्मा बुद्धाय अपि कृतः विनयपिटक महावग्गे) इति कथितः। अतुल पराक्रम प्रदर्शनाय सः ‘महावीर’ (एवमेव बुद्ध ‘वीरः’ अपि कथितः— *थेरीगाथा*, १५७) इति विख्यातः। बौद्धसाहित्ये सः निर्ग्रन्थज्ञातपुत्रः कथितः (निगण्ठ नाटपुत) निर्ग्रन्थ कथनस्य कारणम् अस्ति यत् तेन समस्त सांसारिक बन्धनेभ्यः सम्बन्धविच्छेदः कृतः। ज्ञात पुत्रः कथनस्यकारणं सः जात राज्ञः पुत्रः आसीत्।

महात्मा बुद्ध सदृशमेव महावीर स्वामिनम् अपि अनेकैः राजवंशैः धर्मप्रचाराय योगदानं कृतम्। सः स्वयमपि राजपुत्रः तस्य वंशः अपि तत्कालीन राजवंशैः सह सम्बद्धः आसीत्। महावीर स्वामिना स्वमातृवंशेन अपि योगदानं प्राप्तम्।

गणराज्येषु वैशाली राज्ये महावीरस्वामिनः अत्यधिक प्रभावः आसीत्। अत्र तेन स्व भ्रमणकालस्य द्वादशं वर्षाणि व्यतीतानि। महावीरस्वामिनः ज्ञातृकराज्यं वज्जिसंघस्य अंतर्गतम् आसीत्। अतः तेन सह अस्य संघस्य सहानुभूतिः अपि स्वाभाविकी। मलराजः सस्तिपालः अपि तस्य बहुमानं करोति स्म। तस्य एव राजप्रासादे महावीरस्वामिनः निर्वाणः जातः।

१.२.० जैनधर्मस्य सिद्धान्ताः

१.२.१ निवृत्तिमार्गः

बौद्धधर्म सदृशं जैनधर्मः अपि निवृत्तिमार्गी आसीत्। संसारस्य समस्त सुखानि दुःखमूलकानि सन्ति। (*उत्तराध्ययन*, १३.६.१७)। तानि व्याधिरूपाणि सन्ति (*उत्तराध्ययन*, १४-१३)। मनुष्यः जरामृत्यु सपीडितः अस्ति। (*उत्तराध्ययन*, १३-२६)। गृहस्थजीवने अपि तस्य कृते सुख शान्तिः नास्ति। (*उत्तराध्ययन*, १४-७)। संसारे मनुष्यः आजीवनं तृष्णावृतं भवति। यदि सम्पूर्ण पृथ्वी एक जनस्य स्यात् तथपि

तस्य कृते संतुष्टिः न भवितुं शक्नोति। (सूत्र कृतांग, पृष्ठ ३०१-४)। यत् प्राप्यते तत्परिणामे एव कामाना वर्धते। सम्पत्त्या सह कामाना सम्बर्धते। (सूत्र कृतांग, पृष्ठ ३०१-४)। अयं कामभोगः विषवत कटुः भवति। अयं सदैव दुःखदः भवति। एकस्मिन् स्थाने संसारस्य नश्वरतायाः उल्लेखं कुर्वन् पुत्रः मातापितरं कथयति यत् अयं शरीरः फेन-बुलबुल-सदृशं क्षणभंगुरः वर्तते। अस्य त्यागः अवश्यमेव करणीयः भवति। अस्मिन् अशाश्वते शरीरे अल्पमपि आनन्दो नास्ति। (उत्तराध्ययन, १९-१२)। एतादृश दुःखप्रदैः उद्धरणैः जैनसाहित्यं भरितं वर्तते। जैन धर्मस्य अपि मुख्य समस्या सुख दुःखस्य निरोधश्च वर्तते। दुःखस्य मूले मनुष्यस्य कदापि न तृप्ता तृष्णा भावना वर्तते। अस्य तृष्णायाः कारणेन पांचाल नरेशः ब्रह्मदत्तः नरकं प्राप्तः। (उत्तराध्ययनम्, १३-३४)। मनुष्यस्य आत्यन्तिक सुखं संसारत्यागे निहितम् अस्ति। अतः अनन्त दुःखं विहाय संसारतः पूर्णतः विरक्तः भ्रमणं करणीयम्।

१.२.२. कर्म पुनर्जन्म च

स्वसांसारिक आध्यात्मिक जीवने मनुष्यः स्व प्रत्येक कर्मणि उत्तरदायी वर्तते। तस्य सर्वं सुख दुःख कारणं कर्म एव। कर्मणि यत् आनन्दं प्राप्तिः तस्मिन् बन्धिताः जनाः दुःखांत पापात् मुक्ताः भवितुं न शक्नुवन्ति। [सूत्र कृतांग (जैन सूत्र जिल्द २ पृ० ३०१ जैकोवी)]। कर्म एव मनुष्यस्य मृत्युकारणम्।

अस्मिन् संसारे सर्वे प्राणिनः स्वसंचित कर्मभिः संसार-भ्रमणं कुर्वन्ति। तदनुसारं विविधयोनिं च प्राप्नुवन्ति। कर्मफल-भोगेन विना जीवस्य मुक्तिः नास्ति। (सूत्र कृतांग, १-२१-४)। एवं कर्म एव पुनर्जन्म कारणम्। कर्मफलतः मुक्तिः एव निर्वाण प्राप्ति साधनम् अस्ति। अतः मोक्ष प्राप्त्यर्थं इदम् आवश्यकं यत् मनुष्यः स्व पूर्व जन्मनः कर्मफलं समाप्तं कुर्यात् अस्मिन् जन्मनि च कस्यापि प्रकारस्य कर्मफल संचयः न कुर्यात्। (उत्तराध्ययन, २२-३५)। इदं लक्ष्यं त्रिरत्नस्य अनुशीलनेन अभ्यासेन च प्राप्तं भवति।

१.२.३ त्रिरत्नम्

पूर्वजन्म कर्मफलं समाप्तं कर्तुम् अस्य जन्मनः कर्मफलतः रक्षार्थं जैन धर्मः त्रिरत्नपालनाय उपदिशति। इमानि त्रिरत्नानि सन्ति। (१) सम्यग्दर्शनम्, (२) सम्यक् ज्ञानम्, (३) सम्यक् चरित्रं च। सत्ये विश्वासः सम्यक् श्रद्धा अस्ति। सत्यरूपस्य शंकाविहीनं वास्तविक ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् अस्ति। बाह्य जगतः विषयाणां कृते दुःखे सुखे समभावेन उदासीनता एव सम्यक् चरित्रम् अस्ति। (पञ्चास्तिकाय समयसार, पृ० ११५)।

१.२.४ ज्ञानस्य सिद्धान्तः

जैन धर्मानुसारं ज्ञानं पञ्चविधं भवति—

- (१) मति ज्ञानम्—इदं सामान्य ज्ञानं यत् इन्द्रियमाध्यमेन अनुभूयते।
- (२) श्रुतिज्ञानम्—इदं तद् ज्ञानं यत् श्रुत्वा अथवा वर्णनं कृत्वा प्राप्यते।
- (३) अवधिज्ञानम्—अवधियुक्त मनुष्यः कस्यापि कालस्य कस्यापि स्थानस्य कस्यापि वस्तुनः ज्ञानं कर्तुं समर्थः भवति।
- (४) मनः पर्यायज्ञानम् अन्य जनानां मनमस्तिष्क चिन्तितं ज्ञानार्थम् इदं ज्ञानम्।
- (५) केवलज्ञानम्—इदं पूर्णज्ञानम् अस्ति यत् निर्ग्रन्थ-जितेन्द्रियजैनेः प्राप्यते।

१.२.५ स्याद्वाद

जैनधर्मानुसारं भिन्न दृष्टिकोणेन दर्शन कारणेन प्रत्येकं ज्ञानं विभिन्नं भवति। ज्ञानस्य इदं वैविध्यं सप्तप्रकारस्य भवति अस्ति, नास्ति, अस्ति नास्ति च, कथयितुं न शक्यते, अस्ति परन्तु कथयितुं न शक्यते, नास्ति कथयितुं च न शक्यते, नास्ति कथयितुं शक्यते च।

जैनधर्मे इदं स्यादवादः, अनेकान्तवादः वा सप्तभंगी सिद्धान्तः कथ्यते। शंकरेण रामानुजेन च कालान्तरे अस्य घोर विरोधः कृतः। तयोः मतानुसारं भावः अभावश्च परस्परं विरोधिनौ स्तः। इदम् एकस्मिन् समये न सम्भवम्। अर्थात् इदम् असम्भवं वर्तते यत् एकस्मिन् समये कापि वस्तुः भवतु अथवा न भवतु परन्तु जैनाः इदं सम्भवं कथयन्ति। ते कथयन्ति अयं परस्परं विरोधभावः जटिलता कारणेन अथवा भिन्नदृष्टिकोण कारणेन सम्भवं प्रतीयते। उदाहरणार्थम् इदं कथयितुं शक्यते यत् वृक्षः कम्पायमानः वर्तते यतः तस्य शाखाश्च कम्पन्ति परन्तु अनेन सह इदमपि कथयितुं शक्यते यत् सः न कम्पति यतः एकस्मिन् स्थाने एव स्थिरः भवति। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, निर्मल चन्द्र पाण्डेय, पृष्ठ २७०)।

१.२.६. अनेकान्तवादः

अयं धर्मः आत्मैक्ये विश्वासं न करोति। यदि समस्त जीवेषु एकः एव आत्मा भवत् प्रथक् रूपेण परिचयः न भवितुं शक्नोति, तेषां गति तिष्ठावः अपि विविधाः न भवेयुः, प्रथक् प्रथक् ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-कीट-पतंग-पक्षी-सर्प जीवा न भवेयुः, सर्वे मनुष्याः देवाः वा भवेयुः।

अस्मिन् संसारे सामान्य जीवनयापनं कुर्वन्तः सदाचारिणश्च प्रकारद्वयस्य जीवाः समाः अभविष्यन् यदि आत्मा एकः। (सूत्रकृतांग, २.७.४८/५१)

जैनधर्मस्य अनेकान्तवादः त्रुटिपूर्णः अंसगतः यतः पदार्थानां जीवानां विविधता भौतिकी वर्तते। भौतिकतत्त्वमेव विभिन्न पदार्थानां जीवानां रूपे विभेदं करोति। तेषु आत्मिक अंशः एक एव। भौतिक तत्त्व कारणेन एव संसारे विविध रूपता दृश्यते परन्तु विविध रूपता असत्या वर्तते। अनेन कारणेन एव संसारे दुःखं वर्तते।

१.२.७ निर्वाणः

जैन धर्मस्य परमलक्ष्यं निर्वाणः वर्तते। जीवस्य भौतिक-अंशस्य नाशः अपि निर्वाणः कथ्यते। अयम् अंशः तावत् विनष्टं भवितुं न शक्नोति यावत् मनुष्यः कर्मफल मुक्तः न भवति। सम्पूर्ण कर्मफल विरोधः एव निर्वाणः। मनुष्यः पूर्वजन्म कर्मफल विमुक्तः स्यात् अस्य जन्मनः कर्मफलतः उदासीनः स्यात् तदैव निर्वाण प्राप्यः भवति। पूर्णतः निर्वन्धनम् एव निर्वाणः। निवृत्तः सर्वविध कर्मफल-कामना-रहितः भवति। सः अनन्तशान्तिं प्राप्नोति। तस्य ज्ञानम् असीमम् अनन्तं विशुद्धं जायते। एवं निर्वाणः शरीर विनाशस्य भौतिक-अंशस्य विनाशस्य नामऽस्ति, अस्तित्वस्य विनाशस्य नहि। निर्वाणेन आत्मिक तत्त्वस्य विनाशः न भवति।

जीवे भौतिकम् आत्मिकं च तत्त्वद्वयं भवति। इमौ परस्परं विरोधिनौ। अनयोः परस्परं संघर्षः चलति। आत्मिकतत्त्वम् ऊर्ध्वगामी भवति तत् उपरि उत्थानं कर्तुम् इच्छति परन्तु भौतिक तत्त्वम् अधोगामी भवति। एवं मोक्षः चिरशाश्वत् ऊर्ध्वगामिनी गतिः वर्तते। निर्माणशून्यता, अकर्मण्यता निष्क्रियता वा नास्ति। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ-२७१)।

१.२.८ ईश्वरः सृष्टिश्च

जैनधर्मः अनीश्वरवादी कथितः यतः अस्मिन् ईश्वरः सृष्टिकर्ता इति न स्वीकृतः। वास्तविकता संसारे वर्तते यस्य मूलतः विनाशः न भवति। यत्र वर्तते तत् कदापि विलुप्तं भवतु इति न सम्भवम्। जैनधर्मस्य मतम् अस्ति पदार्थानां मूलतः विनाशो न भवति। सामान्यजनेभ्यः यत् विनाशः तद् एक मात्रं परिवर्तनं भवति। परिवर्तित रूपाणि दृष्ट्वा वयम् अज्ञानतावशेन उत्पत्तिं विनाशा च आभासयामः। वस्तूनाम् अस्तित्वं अनस्तित्वं तेषां गुणेषु विशेषतासु च प्रकटितं भवति। (प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २७१-२७२)। अस्यां सृष्टिपरम्परायाम् अस्मिन् विधाने कस्यापि ईश्वरस्य हस्तक्षेपस्य वा

सहायतायाः वा आवश्यकतानुभवति। पुनः अस्मिन् संसारे आत्मानं विहाय किमपि असीमं नास्ति। अतः जैनधर्मस्य सूक्ष्मविवेचनेन स्पष्टं भवति यत् ईश्वरं 'आत्मा' इति कथयितुं शक्यते। यतः यदि सः आत्मातः पृथक् वर्तते, असीमः न भवितुं शक्नोति।

ईश्वरः मनुष्यस्य आत्मामध्ये अंतर्निहितशक्तीनाम् उच्चतमं श्रेष्ठतमं पूर्णतमं च व्यक्तिकरणं मात्रं वर्तते। (इण्डियन फिलोसोफी, वाल्यूम-१) जैनधर्मे सिद्धान्तरूपेण सनातन वैदिक धर्मस्य देववादस्य, यज्ञवादस्य जातिवादस्य च विरोधः कृतः। महावीर स्वामिना हिंसात्मक यज्ञानाम् अपि विरोधः कृतः। अहिंसात्मकाः परन्तु कर्मकाण्डीयाः यज्ञाः अपि अभीष्टाः नासन् यतः ते यांत्रिका आसन्, मनुष्यस्य अंतः शुद्धिकरणे तेषां किमपि योगदानम् नासीत्। जैनधर्मे सिद्धान्ततः जातिभेदो नासीत्। जैन समुदायस्य अन्तश्चेतनायां जातिभेदस्य संस्काराः सदैवविद्यमाना आसन् अतः व्यवहारिक रूपेण जैनधर्मः शूद्रान् स्वीकरणे असमर्थः जातः।

१.२.९ नारी स्वातंत्र्यम्

महात्माबुद्ध सदृशं जैनसंघद्वारम् नारीणां कृते उद्घाटितं कृतम्। अस्मिन् संदर्भे पूर्वगामी तीर्थंकर पार्श्वनाथ अनुसरणं महावीर स्वामिना कृतम्। नार्यः निर्वाणं प्राप्ति-योग्याः कथिताः। जैन धर्मे अनेकानेक नार्याः दीक्षिताः जाताः। जैन धर्मे श्रमणी श्राविकावर्गद्वयं नारीणाम् एव आसीत्। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ संख्या २७२)।

१.२.१० अहिंसा

जैन धर्मः परम-अहिंसावादी वर्तते। पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसजीव इति षट् प्रकारस्य जीवेभ्यः संयमपूर्णं सद्व्यवहार एव अहिंसा। (दशवैकालिक सूत्रम्, ६-९)। अहिंसायाः अस्य परिभाषायाः अनुसारं प्राणिमात्रेभ्यः

मन-वचन-कर्म-द्वारा कृतम् असंयत आचरणं हिंसा अस्ति। संसारे पूर्ण-अहिंसा-व्रतम् असम्भवम्। अत्यधिकं प्रयत्नशीलेऽपि प्रतिदिनम् अज्ञाने अनेक अदृश्य कीटाणुनां हत्या भवति। अहिंसायाः अस्य सिद्धान्तस्य अतिव्यवहारे उपहास्पद-स्थितिः संजाता। उदाहरणार्थम् कोऽपि कीटाणुः स्वांस प्रस्वांस समये वायुना सह अंतः प्रविश्य मृत्युप्राप्तिं न कुर्यात् एतदर्थं कतिपय जैनैः नासिकायां मुखे च वस्त्रपट्टिका बंधनारम्भः कृतः। एवमेव अन्ये जैनाः यात्रा समये कोऽपि कीटः पदाघातेन घातितो न स्यात् एतदर्थं भूभौ स्वच्छता क्रियते स्म। अन्यैः कीटाणु हिंसाभयात् मधु सेवन-त्यागः कृतः। जलपानं वस्त्रेण छानयित्वा क्रियते स्म। जैनानुयायिनाम् एवम् अतिवादिक्रियां दृष्ट्वा हाष्किन्स महोदयेन कथितम्-जैन-धर्मः तद्धर्मः यत् अन्य कार्यैः सह कीट पतंगानामपि पोषणं करोति। बौद्धधर्मे अहिंसा तथा अव्यवहारिक-सीमापर्यन्तं न कर्षितम्।

१.२.११ काय-क्लेशः

जैनधर्मस्य विश्वासः अस्ति यत् जीवस्य भौतिकतत्त्वस्य दमनकरणाय कायक्लेशः आवश्यकः अस्ति। अनेन तस्मिन् तपस्या-व्रत-अनशन-संलेखना पर्यन्तम् विधानम् अस्ति। स्वयं महावीरस्वामिना भीषण-कायक्लेश-द्वारा ज्ञानस्य प्राप्तिः कृता। अस्य सार्थकतायाः उपयोगितायाश्च प्रतिपादनम् स्वामिमहावीराय स्वाभाविकम् अस्ति।

जैन परम्परायाम् सम्प्रदायद्वयम् वर्तते।

- (१) दिगम्बरसम्प्रदायः,
- (२) श्वेताम्बर सम्प्रदायः।

दिशा एव अम्बरम् यस्य सः दिगम्बरः कथ्यते। अतः दिगम्बरम् यस्य सः दिगम्बरः कथ्यते। अतः दिगम्बर परम्परायाः साधवः अद्यापि नग्नाः भवन्ति।

नग्नतायाः पृष्ठभूमौ लज्जा निरोधस्य अपरिग्रहस्य कायाक्लेशस्य च भावनाः आसन्। यत् वस्तुः मनुष्येण गृहीयते तस्मिन् तस्य आसक्तिः सम्भवति। इदमेव वस्त्राभरण विषये कथयितुम् शक्यते अतः महावीरेन तस्य पूर्णपरित्यागः एव स्वीकृतः। नगनावस्थायाम् मनुष्यः स्वशरीराय कष्टम् दातुम् शक्नोति स्म। स्व-तपश्चर्यायाम् सम्पूर्ण वस्त्राणाम् विशीर्णे स्वयं महावीरस्य शरीरः कीटकीटाणु दंशनेन कष्टतः जातः। (प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २७३)।

१.२.१२ पंचमहाव्रतानि

जैन धर्मे पंचमहाव्रतानि गृहस्थाय श्रमणाय उभयाय सन्ति। जीवने एतेषां परिपालनं पूर्णरूपेण करणीयम् भवति अतः इमे महाव्रतानि कथ्यन्ते। गृहस्थजीवने एतेषां पालनं आशिकरूपेण भवति अतः गृहस्थ-जीवन-संदर्भे अणुव्रतम् इति कथ्यते। श्रमणः एतेषां पंचमहाव्रतानां पालनं पूर्णरूपेण करोति। पंचमहाव्रतानि एवं सन्ति—

(१) अहिंसा-महाव्रतम्—प्राणिनां कृते पीडादानम् एवम् हानिकरणम् हिंसा कथ्यते। स्वपरहिंसा-द्वयतः विरतः भवितव्यम्। (जैन, बौद्ध तथा गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ३२२)।

(२) सत्य-महाव्रतम्—वचनस्य सत्यतायाम् अधिकम् बलम् प्रदत्तम्। श्रमणः मनवचनकायात्रयेण सत्य-पालकः भवेत्। मनवचनकाया-एकरूपता एव सत्यमहाव्रतस्य परिपालनम्। मनवचनकायायाः एकरूपतायाः अभावः एव मृषावादः कथ्यते। (जैन, बौद्ध तथा गीता के आधार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ३२२)

(३) अस्तेय-महाव्रतम्—भिक्षुः स्वामि-आज्ञया विना एकं तृणम् अपि न स्वीकुर्यात्। (दशवैकालिक, ६.१४)। भोजन-वस्त्र-निवास-शय्या-औषध-इत्यादिनां तस्य स्वामिनः अनुमतिं विना न स्वीकरणीयः। प्रदाने एव किमपि ग्रहणीयम्।

- (४) ब्रह्मचर्य-महाव्रतम्—ब्रह्मचर्यत्वम् तप-नियम-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्यक्त्व-विनय गुणानां मूलम् वर्तते। (जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ३३६)। ब्रह्मचर्यमहाव्रतम् नियमरूप प्रधानगुणैः युक्तम् भवति। यः ब्रह्मचर्यव्रत पालनम् करोति तम् देवदानव-यक्ष-इत्यादयः सर्वे नमस्कारम् कुर्वन्ति। (उत्तराध्ययन, १६/१६)।
- (५) अपरिग्रह-महाव्रतम्—अल्पम् भवेत् वा अधिकम् भवेत् सजीवम् भवेत् श्रमणः सर्वप्रकारस्य वस्तुनाम् परिग्रह-त्यागम् कुर्यात्। (दशवैकालिक, ४-५)। श्रमणः मन-वचन-कायात्रयेण परिग्रहणम् न कुर्यात् न कारयेत्, न वा परिग्रह-कर्तुम् अनुमोदनम् च कुर्यात्।

१.२.१३ जैन संघः

जम्भिग्रामे ज्ञान प्राप्तेः पश्चात् महावीर स्वामी पावाम् आगतः। तस्मिन् समये अस्मिन् नगरे महायज्ञस्य समायोजनम् भवति स्म। स्वामिनः आगमने इन्द्रभूति-प्रभृतयः एकादश-याज्ञिक-ब्राह्मणाः तम् निलिप्तुम् शास्त्रार्थम् कर्तुम् आगताः। क्रमशः सर्वे महावीरस्वामिना पराजिताः। तत् पश्चात् स्वशिष्यैः सः जैन धर्मे दीक्षिताः जाताः। इमे एव महावीर स्वामिनः सर्वप्रथमाः अनुयायिनः जाताः। एतेषु स्त्रियः पुरुषाः सर्वे आसन्। ततः स्वामिना समस्त साधुनां समुदायम् एकादश गणेषु विभक्तम्। एवम् एकादश गणधराः नियुक्ताः। इमाः गणधराः एकादश ब्राह्मणाः आसन्। एवम् जैन धर्मस्य प्राथमिक संगठने प्रचार कार्ये च ब्राह्मणैः यथेष्टम् योगदानम् कृतम्। जैन भिक्षुणीनां कार्यम् चम्पानरेश दधिवाहनस्य कन्यका चन्दन-द्वारा प्रथम जैन भिक्षुणी रूपेण सम्पादितम्। स्वयं महावीरः उच्चतम् धर्माध्यक्षः आसीत्। तस्य शिष्याणां कृते श्रावक-श्राविका इति संज्ञा प्रदत्ता। एवम् महावीरेण पावा स्थाने चतुर्विध-संघस्य स्थापना कृता, यस्मिन् समस्त सदस्यानां चतस्रः

कोटयः आसन्—(१) भिक्षुः, (२) भिक्षुणी, (३) श्रावकः, (४) श्राविका। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २७६)।

१.२.१४ निष्क्रमण संस्कारः

यस्मिन् दिने मनुष्यः संसार त्यागम् करोति तत् दिनम् तस्य निष्क्रमण संस्कारः भवति स्म। इदम् कस्मिन् अपि शुभ दिवसे एव भवति स्म। प्रायः चतुर्थी-अष्टमी-दिनद्वयम् अशुभम् मन्यते स्म। (बृहत्कल्पभाष्यपीठिका, ४१३)। निष्क्रमणात् पूर्वम् प्रायः स्व संरक्षकस्य अनुमतिः अपेक्षते स्म। महावीर स्वामिना स्व अग्रज-भ्रातुः आज्ञां सम्प्राप्य एव संसार-त्यागः कृतः।

१.२.१५ भिक्षु-जीवनम्

भिक्षु जीवनम् आत्यन्तिकरूपेण नियमितम् अनुशासनशीलम् च आसीत्। तस्य व्रत भंग करणस्य तुलनायाम् अग्नि-दाहेन मरणम् अधिकं श्रेयस्करम् मन्यते स्म। भिक्षुः पूर्णतः अनासक्तः भवेत् इति शिक्षा दीयते स्म। सः व्यापार व्यवसायम् कर्तुम् सम्पत्ति संग्रहं कर्तुम् वा अनुमतः न आसीत्। सीमित संयत-भिक्षा-वृत्तिः एव तस्य जीविका आसीत्। भिक्षान्नम् अपि समस्त भिक्षकेषु वितरणं कृत्वा एव गृह्यते स्म। जैन-भिक्षुकः तेल-गंध-विलेपन-उपानह-छत्र-प्रयोगं न कुर्वन्ति स्म। भिक्षुः प्रायः वस्त्रत्रयम् धारयन्ति स्म—अन्तरवासकद्वयम् एकं च उत्तरासंगम्। सामान्यतः शीतकाले और्णिकम् शेष समये क्षौमिकं च वस्त्राणि धारयन्ते स्म। (प्राचीन भारत का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २७७)। भिक्षुण्यः कंचुक उपकच्छी-खन्दहकरापि-संघाट-वस्त्राणि धारयन्ति स्म। दस वैकल्पिक सूत्रे निम्नांकित-असत्कर्मभ्यः रक्षार्थम् उपदेशः कृतः—(१) हिंसा, (२) असत्यभाषणं, (३) चौर्यम्, (४) सम्भोगः, (५) सम्पत्तिः, (६) रात्रि समये भोजनम्, (७) क्षितिशरीरी जीवपीडनम्, (८) जल-शरीरी जीव पीडनम्, (९) अग्निशरीरी जीवपीडनम्, (१०) वायुशरीरी जीवपीडनम्,

(११) वानस्पतिक जीवपीडनम्, (१२) जंगम् जीव पीडनम्, (१३) वर्जितवस्तु प्रयोगः, (१४) गृहस्थानां पात्रेषु भक्षणम्, (१५) खाट-आसंदिगादि- प्रयोगः (१६) विस्तर-तकिया प्रयोगः, (१७) स्नानम् (१८) अलंकरणम्।

जैन समुदाये गुरुप्रतिष्ठायाः महत्त्वं वर्तते। महावीर स्वामिना कथितम्-यः गुरवे विनयशीलः तस्य शिक्षा तथैव फलति यथा जलसिंचित वृक्षः।

उत्तराध्ययनं सूत्रे अनुशासनपूर्णजीवनयापनाय भिक्षुजनाय निम्नलिखित- विधि निषेध पालनाय सम्मतिः प्रदत्ता-(१) उल्लास-निषेधः, (२) परनिन्दा-निषेधः, (३) अनुशासनशीलता, (४) लोभनिषेधः, (५) सत्यभाषणम्। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २७७; जैन-दर्शन, महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य; जैन साहित्य का इतिहास, कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

१.३.० बौद्ध धर्मस्य सामान्यः परिचयः

कोशल देशस्य उत्तरे कपिलवस्तु स्थाने शाक्य क्षत्रियाणाम् एकम् लघु-गणराज्यम् आसीत्। अत्र शुद्धोधन नामक राजा राज्यम् करोति स्म। शुद्धोधनस्य कीलिवंशीय पत्नी महामायायाः गर्भे गौतमबुद्धस्य जन्म जातम्। कपिल वस्तुतः त्रिविंशति (२३) किलोमीटरम् दूरम् नेपाल राज्ये लुम्बिनी वने गौतम बुद्धस्य जन्मस्थलम् वर्तते।

गौतम जन्मतः सत्तमे दिने तस्य माता दिवंगता अतः तस्य पालनं मात्रा महाप्रजापति गौतमी द्वारा कृतम्। गौतमस्य जन्म समये कालदेव तपस्विना भविष्यवाणी कृता यत् अयम् बालकः भविष्ये बुद्धः भविष्यति। तस्य बाल्यकालस्य नाम् सिद्धार्थः गोत्रस्य च नाम गौतमः आसीत्। (सुत्तनिपात, ३-७, ३-१-१८, १९)। षोडस-वर्ष अवस्थायां सिद्धार्थस्य विवाहः यशोधरा राजकुमार्या सह जातः। तयोः राहुलनामकः एकः पुत्रः जातः।

ऊन एकोनत्रिंशतवर्षस्य-अवस्थायां गौतमबुद्धेन गृहं त्यक्तम्।
(दीर्घनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त) यत् महानिष्क्रमणं कथ्यते।
तत्पश्चात् सिद्धार्थेन तपस्या कृता। अलाकलामेन उदकरामपुत्तेन बुद्धम्
क्रमशः “अकिञ्चनायतनम्” “नैवसंज्ञायतनम्” च ज्ञानम् प्रदत्तम्।
(बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ ४६-४७)।

१.३.१ ज्ञानस्य अन्वेषणम्

गृहत्यागस्य पश्चात् सिद्धार्थगौतमः सप्त दिनम् अनुपमं नामकं
आम्रस्य उद्याने व्यतीतम् कृतवान्। तत्पश्चात् सुदूर-यात्रां कृत्वा सिद्धार्थ
राजगृहं उपस्थितः। तत्रस्थ नरेशेण तम् ऐश्वर्यप्रदानाय प्रस्तावः कृतः
परन्तु गौतमेन अस्वीकृतम्, अग्रे च गमनं कृतम्।

“उरुवेला” सुरम्यवनस्थले कौडिन्यादि पञ्च साधकाः मिलिताः।
तत्र गौतमेन आत्मपौरुषस्य अवलम्बनं कृत्वा ज्ञानप्राप्त्यर्थं घोर तपस्या
कृता।

गौतमस्य अल्पाहार-परिणामः शुष्कं भूत्वा सः कण्टकमिव
जातः। सः तथा क्षीणः जातः येन सः चलनेऽपि असमर्थः जातः परन्तु
ज्ञानप्राप्तिः न जातः। तपश्चर्या निरर्थकं मत्वा अस्याः परित्यागः कृतः
भोजनग्रहणस्य च शुभारम्भः कृतः। अनेन तस्य पञ्च सहवासी
ब्राह्मणतपस्विभिः विचारितं यत् गौतमः पदच्युतः जातः अतः तद्स्थानं
त्यक्त्वा तैः ऋषिपत्तन सारनाथ-गमनं कृतम्।

ततः गौतमः गयातीर्थे एकस्मिन् वटवृक्षतले आसने कृतनिश्चयश्च
कृतः यावत् ज्ञान-प्राप्तिः न भविष्यति तावत् समाधि भंगः न करिष्यते,
प्राणान्तं पर्यन्तम्। तत्पश्चात् सिद्धार्थः सप्तदिनरात्रिं पर्यन्तम् अखण्ड
समाधिस्थः जातः। अष्टमे दिने वैशाख पूर्णिमायां गौतमः ज्ञानम्
प्राप्तवान्। तस्य साधना सफला जाता। तद् दिनात् सः तथागतः बुद्धः
संजातः। अस्या घटनायाः प्रभावात् गया ‘बोधगया’ इति प्रसिद्धं जातम्।
वट-वृक्षः ‘बोधिबृक्षः’ इति प्रख्यातः।

गौतमः बोधि ज्ञान प्राप्तः परन्तु तेन संघस्य स्थापना प्रथमेव न कृता। एकदा तपस्सु-भल्लिकः व्यापारी द्वयम् बुद्ध सम्मुखम् आगतः। बुद्धः तौ उपदिष्टवान्। तौ उपासकौ जातौ। बौद्ध धर्मस्य इमौ प्रथमौ अनुयायी जातौ। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २८४-२८५)।

पीडित मानवतायाः उद्धाराय धर्मप्रचाराय निश्चयः सिद्धार्थ बुद्धेन कृतः। बोधिगयातः सिद्धार्थ बुद्धः ऋषिपत्तनं गतः। तत्र सर्वप्रथमं तेभ्यः पंच ब्राह्मणेभ्य उपदेशः प्रदत्तः ये पूर्व सहतपस्विनः आसन्। अयं धर्मोपदेशः महात्माबुद्धस्य प्रथमं कार्यम् आसीत्। इदमेव बौद्धपरम्परायां धर्म-चक्र-प्रवर्तनं कथ्यते। कालान्तरे अस्याः घटनायाः स्मरणार्थम् सम्राट-अशोकेन विशाल स्तूप निर्माणं कारितम्।

महात्मा बुद्धः काशीं गतवान् तत्र वसनामक धनिकः स्वसमस्त परिवारेण सह बौद्धः संजातः। एवमेव शनैः शनैः बौद्धानां संख्या वर्धिता। शीघ्रमेव इयं संख्या पष्टिः जाता। महात्मा बुद्धेन सर्वेभ्यः उपदेशः प्रदत्तः बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय लोके अनुकम्पाकरणाय विचरणं कुर्वन्तु। सहैव द्वयं मा गच्छतु। आदि-अंत-मध्य-सर्वेषु कल्याणं कुर्वन्तु इति उपदेशितम् (संयुक्त, ४.१.४, विनयपिटक, महावग्ग) ऊरुवेलस्थाने कश्यप गोत्रीय याज्ञिकब्राह्मणाः बौद्धधर्मस्य अनुयायिनः जाताः। काशीतः महात्मा बुद्धः राजग्रहं गतः। राजगृहे मगधराज बिम्बिसारः स्वप्रजया सह महात्मा बुद्धस्य दर्शनार्थम् उपस्थितः। ते सर्वे बौद्धाः जाताः।

प्रारम्भे महात्मा बुद्ध द्वारा गृहत्यागं दुःखनिरोधाय आवश्यकं न मन्यते स्म। तस्य विचारः आसीत् विशुद्धतम् ब्रह्मचर्यत्वम् गृहस्थ धर्मे न सम्भवम्। बौद्धधर्मस्य व्यापक प्रसाराय गृहस्थानां योगदानम् अपेक्षितम् आसीत् अतः कालान्तरे महात्मा बुद्धेन गृहस्थ जनेभ्यः अपि बौद्धमतं स्वीकरणाय अनुमतिः दत्ता। बुद्धस्य अनुयायिनः चतुर-भागेषु विभाजिताः—(१) भिक्षुः, (२) भिक्षुणी, (३) उपासक, (४) उपासिका।

१.३.२ पर्यटनम्

महात्मा बुद्धः ८० वर्षस्य आयुपर्यन्तं पर्यटनं कुर्वन् धर्म प्रचारं कृतवान्। तस्य शिष्याः अपि यत्र तत्र भ्रमन्ति स्म धर्मप्रचारं च कुर्वन्ति स्म। वर्षाकालातिरिक्तं महात्मा बुद्धः तस्य ऋष्याश्च पर्यटन्ति स्म धर्मप्रचारं च कुर्वन्ति स्म। वर्षाकाले मार्गाः दुर्गमाः अतः तद् समये महात्मा बुद्धेन एकस्मिन् स्थाने मासत्रयं विश्रामः क्रियते स्म। तद् समये प्रधानशिष्याः समागत्य धर्मचर्चा कुर्वन्ति स्म। वर्षाकालस्य प्रधान विश्रामस्थलद्वयम्—(१) वेलुवनम् (२) जेतवनम्। राज्ञा विम्बिसारेण सर्वप्रथमं वेलुवनं विहारः भिक्षु जनेभ्यः संस्थापितः। द्वितीयं जेतवनं जेताराजकुमारस्य सम्पत्तिः आसीत्। सुदात्त अनाथपिण्डणुक श्रेष्ठिधनिकेन बहुमूल्यान क्रीत्वा इदं वनं बौद्ध संघाय प्रदत्तम्।

१.३.३ महापरिनिर्वाणम्

षड्वर्षम् अनवरतधर्मोपदेशस्य पश्चात् महात्मा बुद्धस्य वृद्धावस्था प्राप्ता। तस्य शरीरे जरा लक्षणं प्रगटितम्। अस्मिन् विषये महात्माबुद्धस्य शिष्य-आनन्देन कथितम्—भगवतः बुद्धस्य त्वचावर्णं परिशुद्धः नास्ति, शरीरे जराचिह्नानि सन्ति। शरीरः रोगयुक्तः वर्तते। इन्द्रियासु विकारः दृश्यते। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २८७)।

स्वावसानं समयं समागतं दृष्ट्वा महात्मना बुद्धेन आनन्दः संसूचितः—साम्पृतं आनन्ददीपः आत्मशरणः अनन्यशरणः, धर्मदीपः धर्मशरणः भूत्वा विचरतु।

वैशाली नगरे तथागतेन सर्वेभ्यः उपदेशः प्रदत्तः—अचिरकाले तथागतस्य परिनिर्वाणः भविष्यति। अद्यतः मासत्रयस्य पश्चात् तथागतस्य परिनिर्वाणं प्राप्तिः भविष्यति। वैशालीतः पावां गतः बुद्धः तत्र चुन्द कर्मार पुत्र गृहे भोजनं कृतम्। तत्पश्चात् कुशीनगरे अंतिम उपदेशः प्रदत्तः—मम निर्वाणस्य पश्चात् मम वचनानि शास्ताः भविष्यन्ति। मम शास्ता गतः इति चिन्ता न करणीया। इति उपदेशं दत्त्वा महात्मा बुद्धः निर्वाणं प्राप्तः जातः।

१.४.० बौद्ध धर्मस्य सिद्धान्ताः

१.४.१ आर्यसत्यानि

बौद्ध धर्मस्य मूल-उपादानानि चत्वारि आर्यसत्यानि मन्यन्ते—

(१) दुःखम्, (२) दुःखसमुदयः, (३) दुःखनिरोधः, (४) दुःख-
निरोधगामिनी प्रतिपदा।

दुःखम्—भगवता बुद्धेन समस्ता मानवजातिः दुःखमग्ना दृष्टा।
चतुर्दिग् दुःखमेव राजते। जन्म प्रियवस्तु-व्यक्तिवियोगः, मरणं अप्रिय
मेलनम् अभीष्टाप्राप्तिः किमधिकं सर्वं दुःखमेव [धम्मचक्कप्रपत्तन सुत्त
(संयुक्त निकाय)] इति प्रथमं सत्यम्।

दुःखसमुदयः—तृष्णा दुःखस्य कारणम्। महात्मा बुद्धमते
रूपरसगन्धस्पर्श शब्देषु मानसिकवितर्केषु विचारेषु च मनुष्यो आसक्तो
भवति, तदेव तृष्णायाः बीजम्। [महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ निकाय,
२.९)]।

दुःखनिरोधः—दुःखस्य कारणभूतायाः तृष्णायाः मूलोच्छेदेन
दुःखनिरोधः सम्भाव्यते। रूप वेदनासंज्ञा संस्कार विज्ञानानां निरोध एव
दुःखनिरोधः। (संयुक्त निकाय, २.३)।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा—महात्माबुद्धेन दुःखनिरोधार्थम्
आर्य अष्टाङ्गिकमार्गोऽङ्गीकृतः। मार्गोऽयं निर्वाणं प्रति गच्छति। एषः
मार्गः तस्य अष्टाः अङ्गाश्च अधोलिखिताः सन्ति—

(१) सम्यक् दृष्टिः, (२) सम्यक् सङ्कल्पः, (३) सम्यग्वाणी,
(४) सम्यक्कर्मन्तः, (५) सम्यगाजीवः, (६) सम्यक् व्यायामः, (७)
सम्यक्स्मृतिः, (८) सम्यक् समाधिः।

१.४.२ आर्य अष्टाङ्गिक मार्गः

एते अष्टाः अङ्गाः प्रज्ञ शील समाधि इति आख्येषु त्रिषु स्कन्धेषु
विभाजिताः। प्रज्ञा सहृदयज्ञानमिति कथ्यते। केवलं ज्ञानं जडत्वस्य

द्योतको भवितुमर्हति। किन्तु तदेव ज्ञानं श्रद्धाभावनाभ्यां युक्ते सति अतीव कल्याणकरं भवति। प्रज्ञा एतादृशा एव ज्ञानस्य पर्यायः। शीलं चारित्रिक-प्रकृष्टत्वं सदाचारश्चेति। समाधिश्च चित्तस्थैकाग्रत्वम्।

सम्यक् दृष्टिः—सम्यग्दृष्टिः नीरक्षीर विवेकिनी स्यात्। अनया दृष्ट्या मानवः सत्यासत्ययोः पापपुण्ययोः सदाचारकदाचारयोः विवेकं कर्तुं शक्नोति। चतुर्णामपि आर्यसत्यानां विवेकपूर्णम् अभिज्ञानम् सम्यग् दृष्ट्या एव सम्भाव्यम्।

सम्यक्सङ्कल्पः—कामनाहिंसामुक्तः सङ्कल्पः सम्यक् सङ्कल्प उच्यते। सम्यक् दृष्ट्या वस्तूनि विविच्यमानो नरः उचितस्य वरणं कर्तुं शक्नोति। कामना दुःखस्य जननी हिंसा च अधर्मस्य हेतुः। अतः सङ्कल्पः एतयोः द्वयोः विरहित एव भूत्वा सम्यक् सङ्कल्प इति वक्तुं शक्यते।

सम्यग् वाणी—सत्यविनयमृदुता समन्विता वाक् सम्यग्वाणी इति उच्यते। अस्याः प्रमुखोविषयः धर्मवार्ता भवति। (प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृष्ठ २९३)।

सम्यक् कर्मान्तः—सम्यक् कर्मान्तः सत्कर्म इति वक्तुं शक्यते। सम्यग् दृशा विवेकं कृत्वा सम्यक् सङ्कल्प पूर्वकं सत्कर्म कुर्यात्। अयमेव सम्यक् कर्मान्तः।

सम्यग् आजीवः—आजीवः जीवनयापनस्य पद्धतिः भवति। शुद्धतया जीवन-यापनं तस्य कृते च शुद्ध उपादानानां प्रयोगः व्यवहारश्च सम्यग् आजीवं बोधयति।

सम्यक् व्यायाम—व्यायाम् प्रयत्नः। कस्मिंश्चिदपि कर्मणि व्यवहारे आचारे वा प्रयत्नः अनिवार्यः, स च विशुद्धः ज्ञानयुक्तश्च भवेदिति सम्यक्कायामस्याभिप्रायः। पारिभाषिक रूपेण अयम् “प्रधान” इत्यति कथ्यते।

सम्यक् स्मृतिः—सामान्यतः शब्दोऽयं समीचीनं स्मरणं सूचयति।

व्यापक रूपेण अस्य तात्पर्योऽयं यत् मनुष्यः सदैव स्मरेत् यत् तस्य प्रत्येकं कर्म विवेकपूर्वकं सावधानं च भवेत्।

सम्यक् समाधिः—समाधि चित्तस्य एकाग्रता। परिनिर्वाण समये महात्मना बुद्धेन ये उपदेशाः प्रदत्ताः तेषु बौद्धधर्मस्य अन्यान्यसिद्धान्ताः सन्निहिताः। ते च प्रमुख्येन प्रतिपाद्यन्ते—

१.४.३ चत्वारि स्मृति प्रधानानि

कर्मवादिधर्मत्वात् बौद्धधर्मे “प्रधान”स्य विशेषेण महत्त्वं प्रतिपादितम्—

प्रथम प्रधानम्—दोषपूर्णं संस्काराणामनुदयाय प्रयत्नः।

द्वितीय प्रधानम्—उत्पन्नानां दुष्टसंस्काराणां विनाशाय प्रयत्नः।
(प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २९४)।

तृतीय प्रधानम्—उचितसंस्काराणां उत्पत्तये प्रयत्नः।

चतुर्थ प्रधानम्—उत्पन्नानां शुद्धसंस्काराणां रक्षार्थं प्रयत्नः।
(प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २९४)।

१.४.४ चत्वारि ऋद्धिपादाः

ऋद्धिसिद्धिर्मात्वात् इमे ऋद्धिपादा उच्यन्ते। आचार्यगुद्धोषमतेन सिद्ध्यर्थे ऋद्धयः व्यवहृतः। ऋद्धिपादाः आत्मोत्कर्षाय आवश्यकाः। एते चतुर्धा भवन्ति—

(१) इन्द्रसमाधिप्रधानसंस्कारयुक्तः ऋद्धिपादः।

(२) वीर्यसमाधिप्रधानसंस्कारयुक्तः ऋद्धिपादः।

(३) चित्तसमाधिप्रधानसंस्कारयुक्तः ऋद्धिपादः।

(४) मीमांसा (विमर्श) समाधिप्रधान संस्कारयुक्तः ऋद्धिपादः।

छन्दसमाधिकृत्य चित्तस्यैकाग्रतारूप-समाधेः प्राप्तिः छन्दसमाधिः। वीर्यमधिकृत्य समाधिः चित्तैकाग्रत्वप्राप्तिश्च वीर्यसमाधिः। चित्तमधिकृत्य

समाधिः चित्तैकाग्रत्वप्राप्तिश्च चित्तसमाधिः विमर्शेण समाधिः चित्तेकाग्रत्व प्राप्तिश्च मीमांसा समाधिः उच्यते।

ऋद्धिपादानां-भावनायाः मार्गः आर्य अष्टाङ्गिको मार्गोऽस्ति। एतेषामुद्देश्यः छन्दवीर्यचित्तमीमांसानां प्रहाणाय (साफल्याय) एतेषां पालनमस्ति। [प्रारम्भिक बौद्धधर्मदर्शन (थेरवाद), पृ० २५]।

१.४.५ पञ्चेन्द्रियाः

इन्द्रियशब्दस्यार्थः शक्तिरित्यस्ति। इन्द्रियः पञ्चधा मता—

- (१) श्रद्धेन्द्रियः—यदा आर्य श्रावकः श्रद्धते यत् भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध विद्याचरणसम्पन्नानाम् अनुत्तरपुरुषाणां दमनाय सारथीसदृशानां देवतानां मनुष्याणां च गुरुः भगवान् अस्ति, तदा सः श्रद्धेन्द्रिय युक्तो भवति।
- (२) वीर्येन्द्रियः—कुशल धर्माणामुत्पत्तये वीर्यवत्त्वम्, स्थिरतया दृढपराक्रमः कुशलधर्मेषु अस्खलं वीर्येन्द्रियः इति उच्यते।
- (३) स्मृति इन्द्रियः—परमस्मृतियुक्तानां चिराय उपदिष्टानां धर्माणां स्मरणं स्मृतिइन्द्रिय उच्यते।
- (४) समाधि इन्द्रियः—निर्वाणमालम्ब्य चित्तैकाग्रतायुक्तेः समाधेः लाभः समाधीन्द्रियः।
- (५) प्रज्ञा इन्द्रियः—धर्माणामुदयास्तयोः स्वभावस्य प्रज्ञापूर्वकं ज्ञानं, येन बन्धक्षयोभवति, दुःखानाम् आत्यन्तिकक्षयः प्रज्ञेन्द्रिय उच्यते। [प्रारम्भिक बौद्धधर्म-दर्शन (थेरवाद) पृष्ठ २६]।

१.४.६ पञ्च बलानि

इन्द्रियानुसारेणैव बलानि भवन्ति। एवं श्रद्धा, वीर्यं, स्मृति, समाधि-प्रज्ञाः इति पञ्चबलानि भवन्ति।

१.४.७ सप्तबोध्यङ्गाः

बोधि+अङ्ग इति शब्द द्वयस्य सन्निधानेन बोध्यङ्ग इति शब्दो व्युत्पन्नः। बोधेः अर्थोऽस्ति ज्ञानम्। अङ्गाः ज्ञानप्राप्तौ सहायकाः भवन्ति। एतस्मादेवैते बोध्यङ्गा इति उच्यन्ते ते च सप्तसंख्यकाः भवन्ति—

(१) स्मृति सम्बोध्यङ्गः, (२) धर्मप्रविचयसम्बोध्यङ्गः, (३) वीर्य सम्बोध्यङ्गः, (४) प्रीतिसम्बोध्यङ्गः, (५) प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्गः, (६) समाधिसम्बोध्यङ्गः, (७) उपेक्षासम्बोध्यङ्गः।

एतेषां बोध्यङ्ग धर्माणां पृथग् पृथग् आहाराः स्मृताः। स्मृति बोध्यङ्गासाधकानां धर्माणां सम्यग् मननं तस्याहारो मतः। कुशलाकुशलानां सदोषनिर्दोषाणां सदसदां कृष्णशुक्लानां धर्माणां सम्यङ्मननं धर्म प्रविचय सम्बोध्यङ्गस्याहारः। आरम्भनैष्क्रम्यपराक्रमधातूनां सम्यङ्मननं वीर्यसम्बोध्यङ्गस्याहारः। समाधिबोध्यङ्गस्य आहारः उपेक्षासाधकानां च धर्माणां मननं चिन्तनं च उपेक्षा सम्बोध्यङ्गस्याहारः। [प्रारम्भिक बौद्धधर्म-दर्शन (थेरवाद) पृष्ठ २५]।

१.४.८ कारणवादः

बौद्धधर्मः कारणवादि अस्ति। तस्य इदमेव वैशिष्ट्यं धर्ममिमम् नैरास्यवादिभ्यः पृथक् करोति। बौद्धधर्मानुसारं संसारेऽस्मिन् येऽपि धर्माः सन्ति ते सर्वे हेतुपन्नाः सन्ति। तथागतेन तेषां हेतवः तन्निरोधश्च उपदिष्टः। [विनय पिटक (महावग्ग)]। बुद्धेन जरामरणं सकारणं मतम्।

१.४.९ कर्मवादः

बौद्धधर्मः कर्मप्रधानोऽस्ति। आस्तिक धर्मेषु ईश्वरस्य यादृशी महत्ता स्वीक्रियते तादृशी एवात्र कर्मणो महत्ता अङ्गीक्रियते। ज्ञान-प्राप्तिः कर्मण्येव आधृता। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रेषु यः कोऽपि सम्यक् कर्मवान् भविष्यति, सैव “निर्वाणस्य” अधिकारी भविष्यति। (दीर्घनिकाय, ३-४)।

१.४.१० अव्याकृतप्रश्नानि

महात्मना बुद्धेन तानेव विषयानधिकृत्य उपदिष्टम् ये मानवस्य परम कल्याणार्थमनिवार्या आसन्। लोकजीवपरमात्मविषयकानेकान् विवादान् व्यर्थान् अमन्यत। एतदस्मादेव तेन दश अकथनीयसिद्धान्ताः प्रतिपादिताः। येऽव्याकृतप्रश्नरूपेण उपस्थापिताः—

- (१) किं लोको नित्यः?
- (२) किं लोकोऽनित्यः?
- (३) किं लोको सान्तः?
- (४) किं जीवशरीरयोरभेदः?
- (५) किं जीवशरीरयोः भेदः?
- (६) किं लोकोऽनन्ताः?
- (७) किं मृत्योरनन्तरं तथागताः भवन्ति?
- (८) किं मृत्योरनन्तरं तथागताः न भवन्ति?
- (९) किं मृत्योरनन्तरं तथागताः भवन्ति न भवन्ति च?
- (१०) किं मृत्योरनन्तरं तथागताः न भवन्ति न च न भवन्ति?

१.४.११ प्रतीत्य समुत्पादः

प्रतीत्यसमुत्पाद इति पदे शब्दद्वयं वर्तते प्रतीत्य इति समुत्पाद इति च। प्रतीत्य इति शब्दस्यार्थो भवति प्राप्य समुत्पाद इति पदस्यार्थो भवति प्रादुर्भावः। सम्+उत् इति उपसर्गद्वयोः पद सत्तार्थे धातोः व्युत्पन्नोऽयं समुत्पाद शब्दः। एवं प्रतीत्यसमुत्पाद इति समस्त पदस्यार्थो भवति एकस्मिन् वस्तुनि सति अपरस्य वस्तुनः उत्पादः। किमिदं वस्तु? प्रत्यय इति। एकम् अस्य सिद्धान्तस्य अभिप्रायः एकस्मात् प्रत्ययात् अपरस्य प्रत्ययस्योत्पत्तिः इति। विसुद्धिमार्गे उक्तं यत् हेतुसमूहानां प्रतिमुखत्वात् प्रतीत्य इति कथ्यते सहस्थितान् धर्मश्चोत्पादयति अतः समुत्पाद इति उच्यते। संयुक्त निकायानुसारेण अस्य तात्पर्यः हेतुरिति। नायं

स्वयमुत्पन्नः न च केनापि अपरेण उत्पाद्यते। अपितु अन्योऽन्यप्रत्ययोत्पन्नो भवति। यथा नलकलापौ परस्परमाश्रितौ तिष्ठतः तथैव अस्य प्रत्ययाः परस्परं हेतुत्वेन तिष्ठन्ति। (प्रारम्भिक बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ १६)।

प्रतीत्यसमुत्पादसिद्धान्तस्य द्वादशाङ्गाः प्रख्यापिताः—

अविद्या—चतुर्णामार्यसत्यानामज्ञानमविद्या। अविधाकारणादेव दुःखसमुहस्तिष्ठति।

संस्काराः—संस्काराः त्रिविधम् कामो वाक् चित्तश्च।

विज्ञानम्—विज्ञानं संवेदनारूपम्। तच्च षड्विधम्—चक्षुर्विज्ञानम्, श्रोतृविज्ञानम्, घ्राणविज्ञानम्, रसना (जिह्वा) विज्ञानम्, काम विज्ञानम्, मनोविज्ञानं च।

नामरूपम्—वेदनासंज्ञाचेतनास्पर्शमनसां विषयः नाम तस्य च नाम्नः चतुर्भूतात्मकं स्वरूपमेव रूपम्।

षडायतनम्—चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा (रसना) काम मन इति एतानि षडायतनानि निगदितानि।

स्पर्शः—आयतनमिव चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसना काममन इत्येते संस्पर्शाः षड्-संज्ञाकाः भवन्ति।

वेदनायाः—आयतनस्पर्शविव चक्षुरादिकाः षड्वेदना अपि ज्ञातव्याः।

तृष्णा—षड् तृष्णाः उक्ताः—रूपतृष्णा शब्दतृष्णा गन्धतृष्णा रसतृष्णा स्पर्शतृष्णा धर्म तृष्णा च।

उपादानम्—उपादानानि चतुर्धा मतानि कामो दृष्टिः शीलव्रतम् आत्मवादश्च।

भवः—भवः त्रिविधः उच्यते कामो रूपमरूपं च।

जातिः—जीवानां विविधयोनिषु जन्म उत्पत्तिः आगमनं प्रकटनम् स्कन्धानां प्रादुर्भावः आयतनानां प्रतिलाभश्च जातिरुच्यते।

जरामरणम्—जीवानां विविधयोनिषु वृद्धत्वं जीर्णत्वं, दन्तस्खलनं

केशपलनं त्वक्शैथिल्यं आयुसमाप्तिः इन्द्रियशैथिल्यमिति जरा। योनिभ्यो जीवानां सरणं गलनं तिरोधानं मरणं स्कन्धानामनवस्थानं शरीरविमोक्षच मरणम्। (प्रारम्भिक बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ १६-१७)।

१.४.१२ निर्वाणम्

निर्वाणमेव बौद्धधर्मस्य परमलक्ष्यः। निर्वार्णस्य रूपमन्यधर्मेषु प्रतिपादितात् मोक्षस्वरूपात् सुतरां भिन्नमेवालक्ष्यते। अन्यधर्मानुसोण निर्वाणरूपो मोक्षः मृत्योरनन्तरमेव लब्धुं शक्यते किन्तु बौद्धधर्मे जीवने एव निर्वाणं सम्भाव्यम्। [अंगुत्तर निकाय, सुत्तनिपात (परायवग्गो)]। प्रायः बौद्धधर्मस्य समस्तसिद्धान्तैः सदृशं निर्वाणमपि जीवनस्य समस्या वर्तते। भगवान् बुद्धो निर्वाणं प्राप्तेरनन्तरं चिरकालं यावदजीवत। वस्तुतः बौद्धमते निर्वाणस्याभिप्रायः परमज्ञानम् जीवनस्य पूर्णविशुद्धिश्चास्ति। [चूलवियूह सुत्त (सुत्तनिपात)]। इदमेव विमुक्तेरपरपर्यायः। (संयुक्त निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १८७)। तल्लब्ध्वा जरामरणयोः भवं (भवचक्रः) न तिष्ठति। (सुत्तनिपात, ५-१०)। इदमेवामृतपदम्। [विनय-पिटक (महावग्ग)]। इदं लब्ध्वा किमपि अप्राप्यं न भवति। यथा लक्ष्यं प्राप्य नौकायाः आवश्यकता पुनः न भवति तथैव निर्वृत मनुष्यस्य कृते धर्मस्यावश्यकता न भवति। (मज्झिमनिकाय, १.३.२)।

१.४.१३ अनीश्वरवादः

महात्मा बुद्धेनेश्वरः सृष्टिकर्तृरूपेण न स्वीकृतः यतः एवं मन्यते चेत् तर्हि ईश्वरः दुःखरूपायाः सृष्टेः कर्ता भवेत्। स च ऐश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् दयालुः कथं दुःखमात्रं सृष्टुमर्हति। अनेनैव कारणेन बहुशो विद्वांसः बुद्धम् अनीश्वरवादी इति मन्यन्ते। वस्तुतः बुद्धस्य सिद्धान्ताः कर्मवादस्य भूमौ आधृता आसन् अतः ईश्वरविषयकान् प्रश्नान् अधिकृत्य विचारः तस्य मतौ अनावश्यकता आसन्।

१.४.१४ अनात्मवादः

महात्मा बुद्धेन आत्मविषयकेषु प्रश्नेषु सारनाथे पंचवर्गीया भिक्षुक

उपदिष्टाः। ते चोपदेशाः विनयपिटकस्य महावग्गे अनत्तलक्खणसुत्तरूपेण संरक्षिताः। एतेषु सुत्तेषु तथागतेन पंच स्कन्धानां रूपवेदनासंज्ञासंस्कार-विज्ञानानां विश्लेषणं कृत्वा मतमिदं प्रस्तुतीकृतं यदेवेभ्यः स्कन्धेभ्यः कोऽपि आत्मेति वक्तुं न शक्यते यतोहि ते सर्वेऽनित्याः व्याधि-अधीनाश्च सन्ति। अत एते अनात्माः सन्ति।

तस्मिन् समये मध्यममार्गस्य एकः वर्गः शाश्वतवादिविचारधारां-ऽमव्यत् तदानुसारिक आत्मा अनुभवगम्यः नित्यः-ध्रुवः-शाश्वत अपरिवर्तनशीलः अनन्तश्च अस्ति स च अनन्त कालम् यावत् यथावत् स्थास्यति। [सब्बासव-सुतन्त (मज्झिमनिकाय, १.१.२)]।

द्वितीयो वर्गः उच्छेदवादिनां आसीत्। तदानुसारेण चेत् मृत्योऽन्तरम् जीवो-प्राणी वा सर्वथा विनाशं ऐति किञ्चित्ऽपि न अवशिष्यते तर्हि पुनर्जन्म कस्य भवति। कर्मणः फलम् कः मुक्तिः। अतएव भगवान् वृद्धश्चेत् उच्छेदवादं स्वीकुर्यात् तर्हि तदुपदिष्टौ कर्मवादपुनर्वादसिद्धान्तौ निरर्थकौ स्याताम्।

एतेषमादेव कारणात् तेन शाश्वत्वाद-उच्छेदवादयोः मध्यस्थो मार्गः स्वीकृतः। अयं एव मार्गः मध्याप्रतिपत्त इति उच्यते। आत्मविषये तेन नैव निषेधात्मकम् मतम् व्यक्तीकृतम् न च सकारात्मकम्। एवम् एतत् कथनम् यत् भगवान् बुद्धः आत्मनः अस्तित्वम् न स्वीकरोति समीचीनं न वर्तते। अपितु तस्य अनात्मवादी सिद्धान्तस्य अभिप्रायो अयम् यत् स्कन्धानामात्मत्वेन अवस्थानं न भवति।

बौद्धधर्मः कर्मफले विश्वसिति। स्व-स्व कर्मफलानुसारेण एव मनुष्यः उत्तमम् निम्नम् वा जन्म लभेत्। (मज्झिम०, ३.४.५-६)। कर्मानुसारेण जन्म कस्य भवति मरणात् अनन्तरम् वा कर्मफलम् केन् भुज्यते इत्यादि प्रश्नानां उत्तरं मिलिन्दपहो ग्रन्थे आचार्य नागसेनेन प्रस्तुतम्। यथा जल प्रवाहे एकम् तरंगम् अनु अपरः तरंगः आगच्छति। वस्तुतः जल प्रवाहः तरंगाणां एतादृशः क्रमः भवति यस्मिन् लेशमपि व्यवधानं न भवति तथैव एकस्य जन्मनः अन्तिमायाः चेतनायाः विलये

सत्येव अस्य जन्मनः प्रथमा चेतना प्रादुर्भवति। विलय उदययोः मध्ये मध्ये व्यवधानं न भवति। एतादृश्यामवस्थायां एतद् वक्तुम् न शक्यते यत् उत्पन्नः जीवः पूर्वः अस्ति नितान्तं परो वा।

नागसेनस्य शब्देषु—“मृत्युसमये यस्य विनाशः भवति सः अन्यत् एव नामरूपम् भवति। यश्च पुनर्जन्म गृह्णाति सः अपरम् एव नामरूपम्। तथापि द्वितीय नामरूपं प्रथम नामरूपादेव समुद्भवति। [मिलिन्दपन्हो (लक्खणपन्हो)]।

एवम् बुद्धस्य सिद्धान्तः जीवनसम्बन्धित्वात् सरलाः अपि सन्ति। तां अवबोद्धुम् अवबोधयितुम् वा कठिनम् नैव आसीत्। बुद्धः याम् शैलीम् अधिकृत्य स्वसिद्धान्तानाम् प्रचारं कृतवान् सा अतीव प्रभावोत्पादिनी आसीत्। सः कदापि दार्शनिक विचाराणां उपदेशकाले क्लिष्टयाः दार्शनिकपदावल्याः प्रयोगं नैव विहितवान्। तस्य सर्वाधिकम् प्रभावशालि वैशिष्ट्यम् तस्य मृदुवाक् शान्त स्वभावश्च आसीत्। (बौद्ध-दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, बौद्ध धर्म-दर्शन—नरेन्द्र देव, बौद्ध दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, बौद्ध सिद्धान्तविमर्श—शान्तिभिक्षु शास्त्री, भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन—सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय)।

१.५.० बौद्धजैनधर्मयोः तुलनात्मकम् अध्ययनम्

द्वयोः अपि धर्मयोः विश्लेषणेन उभयोः अपि कानिचित् साम्यानि कानिचित् च वैषम्यानि परिलक्ष्यन्ते। बौद्धजैनधर्मयोः सामान्यम् वैशिष्ट्यम् निम्नवत् बोद्धव्यम्—

- (१) उभौ धर्मौ वेदप्रामाण्यम् न स्वीकुर्वतः। एतस्माद् एव एतौ नास्तिकौ उच्येते।
- (२) उभौ अपि ब्राह्मणधर्मस्य यज्ञवादं बहुदेववादं जातिवादं च अस्वीकृत्य तेषां विरोधं कुरुतः।
- (३) बौद्धजैनधर्मौ सृष्टिकर्तुः रूपेण ईश्वरस्य सत्तां न स्वीकुरुतः।

- (४) उभौ अपि धर्मौ निवृत्तिमार्गिणौ स्तः। संसारत्यागम् च महत्वपूर्णं मन्यते।
- (५) उभौ अपि गृहस्थान् अपि स्वधर्मे दीक्षितान् कर्तुम् अर्हतः।
- (६) उभयोः धर्मयोः स्व-स्व संधाः सन्ति।
- (७) उभयोः धर्मयोः संधाः चतुर्विधाः सन्ति अर्थात् तेषु भिक्षवः भिक्षुण्यः उपासिकाः उपासकाश्च चतुर्वर्गेषु विभक्ताः।
- (८) बौद्धजैनधर्मयोः चरमलक्ष्यः निर्वाणम्ऽस्ति।
- (९) उभयोः धर्मयोः त्रिरत्नानि स्वीकृतानि। जैन धर्मस्य त्रिरत्नानि सम्यक् दर्शनं सम्यक्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं चेति प्रतिष्ठितानि। बौद्धधर्मस्य च त्रिरत्नानि बुद्धधम्मसंधानि सन्ति तेषु च श्रद्धा बौद्धधर्मावलम्बिनिः अनिवार्यरूपेण भक्तिव्या।
- (१०) उभौ अपि धर्मौ स्व संस्थापक प्रचारकाणां उपासनायां विश्वासं कुरुतः। जैनधर्मप्रचारकाः तीर्थकराः बौद्धधर्मप्रचारकाश्च बुद्धाः इति कथ्यन्ते।
- (११) उभौ धर्मौ कर्मवाद पुनर्जन्मवादयोः विश्वासोऽस्ति।
- (१२) उभयोः धर्मयोः आचारतत्त्वस्य प्रतिष्ठा स्वीकृता।
- (१३) उभौ धर्मौ अहिंसा मूलकौ स्तः।
- (१४) उभौ धर्मौ प्रारम्भे बुद्धिवादी विचारधारां स्वीकृतवन्तौ। तयोः भक्त्याः स्थानं नैव आसीत् किन्तु समयान्तराले उभयोः भक्तिवादस्य उदयः सञ्जातः।
- (१५) उभौ धर्मौ प्रारम्भे शरीर पूजायाः मूर्तिपूजायाश्च विरोधं कृतवन्तौ परन्तु कालान्तराले उभयोः अपि एतादृशी पूजा अंगीकृता।
- (१६) उभौ अपि धर्मौ प्रथमम् दुःखवादं विविच्य पश्चात्

निर्वाणम् अधिगम्य सुखवादिनौ सन्जानौ एवम् उभौ
नैराश्यवादिनौ न अपितु आशावादिनौ धर्मो मन्तव्यौ।

(१७) उभौ धर्मो मानवतावादं प्रतिष्ठापयतः मानवं च देवेभ्योऽपि
उन्नततरम् मन्येते।

(१८) उभौ जनवादिनौ लोकवादिनौ वा इति वक्तुम् शक्यते यतः
उभाभ्यामपि धर्मसंस्थापकाभ्याम् महावीरभगवान्बुद्धाभ्याम्
संस्कृतभाषाम् अस्वीकृत्य क्रमशः प्राकृतपालिभाषे
माध्यमरूपेण स्वीकृते ये लोकभाषो आस्ताम्। कालान्तरे
उभयोः धर्मयोः संस्कृतभाषा अपि प्रतिष्ठापिता।

(१९) उभयोः धर्मयोः संस्थापकयोः जीवनचरितम् प्रायः समानं
दृश्यते। उभौ अपि महावीर सिद्धार्थो क्षत्रिय राजकुमारौ
भारतस्य पूर्वान्वले लब्धजन्मानौ आस्ताम्। उभाभ्याम्
अपि किञ्चित् कालं यावत् विवाहितं जीवनं व्यतीत्य
पश्चात् गृहं त्यक्तम्। उभौ ज्ञानान्वेषणे भ्रान्तौ अनायासेनैव
ज्ञानं लब्धवन्तौ। ज्ञानेन च जनकल्याणार्थम् निश्चितवन्तौ।
एतदर्थम् उभाभ्याम् महावीर बुद्धाभ्याम् संघस्थापना कृता।

एताः समताः दृष्ट्वाः नैकैः आरम्भिक विद्वद्भिः महावीर स्वामी
महात्मना बुद्धेन अभिन्नः व्यक्तिः मतः परन्तु ग्युरिनोमहाशयेन उभयोः
धर्मसंस्थापकयोः जीवनस्य विषये वैभिन्न्यानि दर्शयित्वा तेषां विदुषां
भ्रमम् निराकरोत्—

(१) वर्धमानस्य जन्म ५९९ ई०पू० वैशाल्याम् अभूत्। गौतम
बुद्धस्य च जन्म ५६७ ई०पू० कपिलवस्तु नगरे बभूव।

(२) वर्धमानस्य पितरौ चिरं जीवितौ गौतमस्य माता तस्य
जन्मनः सप्तमे एव दिने दिवंगताः।

(३) वर्धमानः स्व भ्रातुः अनुमतिं लब्ध्वा वैराग्यं अंगी कृतवान्
किन्तु गौतमः स्वपारिवारिक जनानां इच्छाविरुद्धं एव
अविज्ञाप्य गृहं त्यक्त्वा वैराग्यम् अंगी कृतवान्।

(४) वर्धमानः द्वादशवर्षाणि तपस्तप्त्वा ज्ञानं प्राप्तवान् किन्तु गौतमः सप्तवर्षाणि तपस्तप्त्वा बोधिम् लेभे।

(५) वर्धमानः ५२७ ई०पू० पावानाम्नि स्थाने दिवंगतः यावत् हि गौतमस्य मृत्युः कुशीनारा स्थाने अभवत्।

उभयोः धर्मयोः साम्यम् परिलक्ष्य एतद् अपि मतं प्रचलितं यत् एतयोः अन्यतरम् अन्यतरस्य शाखा अनुकृतिः वा अस्ति।

साम्प्रतिकाः विद्वांसाः उपर्युक्तं मतं कथमपि न स्वीकुर्वन्ति। अध्ययनैः विश्लेषणैः च ते उभयोः पृथक्त्वे अधोलिखितानि बिन्दूनि उपस्थापयन्ति—

(१) जैन धर्मः बौद्धधर्मात् प्राचीनतरम् अस्ति।

(२) बौद्धधर्मः अनात्मवादी वर्तते किन्तु जैनधर्मः आत्मवादी अस्ति।

(३) जैनधर्मः काया-क्लेशं स्वीकरोति किन्तु बौद्धधर्मः मध्यमा प्रतिपदम् स्वीकरोति तन्मते अति भोगोऽपि अवाञ्छनीयः अति काया-क्लेशोऽपि च।

(४) उभयोः निर्वाणं प्राप्तेः मार्गौ भिन्नौ। जैनधर्मानुसारेण निर्वाणस्य कृते त्रिरत्नानाम् अनुसरणं आवश्यकीयम् तद् भिन्नं बौद्धधर्मानुसारेण आष्टांगिकमार्गस्य अनुसरणेन निर्वाणं प्राप्तिः सम्भाव्या।

(५) जैनधर्मः बौद्धधर्मः अपेक्षया अहिंसासिद्धान्तस्य महत्वं अधिकम् मन्यते।

(६) जैनधर्मः मृत्योः पश्चात् एव निर्वाणं सम्भाव्यम् मन्यते किन्तु बौद्धधर्मः जीवने अपि निर्वाणं सम्भाव्यम् मन्यते।

(७) जैन धर्मे सृष्टिनिर्माणं विषयकाः विचाराः स्पष्टं व्यक्तीकृताः किन्तु बौद्धधर्मे तद् विषये किञ्चिदपि न उक्त्वा अव्याकृतः सृष्टिनिर्माणं विषयः इति एव निर्दिष्टम्।

- (८) बौद्धधर्मे जातिभेदः न स्वीकृतः जैनधर्मे अपि सिद्धान्ततः तस्य विरोधः विहितः किन्तु व्यवहारिरूपेण अयं विचारः अंगीकर्तुम् न अशक्यत।
- (९) जैनधर्मावलम्बिनः स्वतीर्थकराणाम् उपासनां कुर्वन्ति बौद्धधर्मावलम्बिनश्च स्व बुद्धानां।
- (१०) उभयोः अपि धर्मग्रन्थाः पृथक् सन्ति बौद्धानां प्रधान ग्रन्थः त्रिपिटकम् इति जैनानां च धर्मग्रन्थाः आगम इति उच्यन्ते। उभयोः धर्मग्रन्थाः भिन्न भाषायां लिपिवद्धाः।

(द्रष्टव्यः—१. जैन तथा बौद्धधर्म-महेन्द्रनाथ सिंह; २. जैनज्म एंड बुद्धिज्म-के० पी० जैन; ३. जैन-साहित्य का इतिहास-कैलाशचन्द्र शास्त्री; ४. जैन-दर्शन-पं० महेन्द्र कुमार जैन; ५. जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा-मुनि नथमल, राजस्थान; ६. जैन धर्म-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

द्वितीयोऽध्यायः
धम्मपद-समणसुत्तयोः सामान्य
परिचयः विषयवस्तुः च

२.१.० धम्मपदस्य परिचयः

पालिभाषायां लिखितं धम्मपदं मूलतः बुद्धवचनं वर्तते। अस्मिन् आधारे धम्मपदस्य रचनाकालः महात्मनः बुद्धस्य च समय एक एव।

प्रारम्भे बौद्ध धर्मस्य समस्तग्रन्थाः मौखिकरूपे आसन्। भगवतः बुद्धस्य प्रवचनं, शिष्याः कण्ठस्थं कुर्वन्ति स्म। कालान्तरे इदं प्रवचनम् चिरस्थायितुं अस्य संग्रहणाय लिखितरूपेण संरक्षणाय च विचारः कृतः। बौद्ध साहित्यस्य संकलनं षट्संगीति सम्मेलनेषु विचार विमर्शः कृत्वा कृतम्।

प्रथमसंगीति सम्मलेन राजगृहस्य सप्तपणीगुहायां महात्माबुद्धस्य निर्वाणस्य पश्चात् ४७७ ईसवी पूर्वं समायोजितम्। अस्य सभापतित्वं महाकश्यपेन सम्पादितम्। अस्मिन् सम्मेलने पंचशतैः (५०० पंचशतिका) बौद्धजनैः भाग ग्रहणं कृतम्। [धम्मपद, डा० भिक्षु धर्मरक्षित, पृष्ठ १, पृष्ठभूमि (मूल पालि, संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद)]।

द्वितीयसंगीति-सम्मेलनं “शप्तशतिका” बुद्धनिर्वाणस्य शतं वर्षान्तरं वैशाली नगरे समायोजितम्। त्रिपिटकत्रये पालि साहित्यस्य वर्गीकरणं [(१) विनय (२) सुत्त एवं (३) अभिधम्म] अस्मिन्नेव समये संजातम्।

तृतीय संगीति सम्मेलनं बुद्ध निर्वाणस्य २३६ वर्षान्तरं सम्पन्नम्। शेषसंगीति त्रयं लंका शासकैः समायोजितम्।

धम्मपदं सुत्तपिटकस्य पंचमे खुद्दकनिकाये तस्य अंगरूपम्। धम्मपदे संगृहीतं चतुर्शतत्रिविंशति (४२३) गाथानाम् उपदेशः भगवतो बुद्धेन देशाटने कृतः।

सप्तम्-शताब्द्याः चीन देशस्य यात्री ह्वेनसांग-विवरणानुसारं काश्यपेन् प्रथमसंगीति-समापने त्रिपिटकस्य अभिलेखनं ताम्रपत्रे कृतम्। (पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय) अस्य समयः पंचमशताब्दि-ईस्वी पूर्वं वर्तते।

बौद्धग्रन्थमहावंश-विवरणानुसारं सिंधलद्वीपस्य शासक बट्टगामिनि शासन काले ८८तः ७६ ईस्वी पूर्वं सर्वप्रथमं त्रिपिटकग्रन्थस्य लेखनं सम्पन्नम्। महावंशस्य ग्रन्थस्य रचनाकालः ४५९-४७७ ई० वर्तते।

प्रथमशताब्द्याः पालिग्रन्थ-मिलिन्दपहो मध्ये धम्मपदस्य श्लोकाः समुद्धृताः। अस्य समयस्य एव प्रसिद्ध कवि अश्वघोषः धम्मपदव्याख्यारूपाम् अट्टकथां रचितवान्।

“महानिद्देश” “चुल्लनिद्देश” इति द्वितीयशताब्दि रचना द्वये सम्राजाथोकेन धम्मपदस्य “अप्पमादवग्ग” भागस्य श्रमणेभ्यः श्रवणं कृतमिति समुल्लिखिता एतदनुसारं वर्तते। धम्मपदरचनासमय निश्चितरूपेण सम्राट् अशोकस्य पूर्वं प्रमाणितं भवति। (धम्मपद, अनुवादक-भिक्षु धर्म रक्षित, पृष्ठ ४)।

मोगगलिपुत्ततिस्सः सम्राट्-अशोकसमये समायोजित-तृतीयसंगीति सम्मेलनस्य सभापति आसीत्। तस्य रचना-कथावत्थू मध्ये धम्मपदस्य सूक्तयः समुद्धृताः।

निष्कर्षे इदं स्पष्टं भवति यत् धम्मपदस्य मूलरचनाकालः महात्मा बुद्ध कालिकः वर्तते। अस्य वर्तमान रूपम् ईसवी पूर्वं प्रथमशताब्द्याः वर्तते।

शब्दार्थः—धम्मपदे शब्द द्वयम् अस्ति-धम्म पदं च। “धम्म” शब्दः संस्कृतस्य धर्म शब्दस्य पालिरूपान्तरम्। बौद्धसाहित्ये धर्म शब्दस्य व्यापकेऽर्थे प्रयोगः अस्ति। “धम्म” शब्दस्य अनेकाऽर्थः भवन्ति यथा—अनुशासनं धर्मश्च। (बौद्ध तथा जैन धर्म, महेन्द्रनाथ सिंह, पृष्ठ १६)। “धर्म” शब्दस्य प्रयोगः विशेषरूपेण बुद्धेन् उपदेशितस्य धर्मस्य कृते कृतः। धम्मपदे अपि “धम्म” शब्दस्य प्रयोगः

“सदाचाराय” कृतो वर्तते। अस्मिन् ग्रन्थे प्रमुखाः प्रतिपाद्याः विषयाः अप्रमादः अक्रोधः अहिंसा अस्तेयं अपरिग्रहः अवैरं च इति सदाचारस्य एव नियमाः सन्ति।

बौद्धधर्मस्य पंचशीलाः दशशीलाः आर्यसत्यानि-अष्टांगिकमार्गादि-नियमाः सिद्धान्ताः विवेचिताः।

“पद” शब्दस्य अनेकेऽर्थाः सन्ति स्थानं सुरक्षां निर्वाणं कारणं शब्दः वस्तु अंशः पदचिह्नः भवितुं शक्यते। एतद् अतिरिक्तं “पद” शब्दस्य अर्थः वाक्यं गाथायाः पङ्क्तिः वा अपि भवति। अतः धम्मपदस्य अर्थः धर्म-सम्बन्धिवाक्यं गाथा वा भवति। (पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ २३८)।

बुद्धेन उपदिष्टं धर्म-सम्बन्धित शब्दाः वाक्यानि वा गाथाः भिक्षुभिः जीवनकाले एव कण्ठस्थी कृताः। धम्मपदं एतादृशम् एव संकलनग्रन्थः। स्वयमेव “धम्मपदस्य द्वयोः गाथयोः “धम्मपद” शब्दस्य प्रयोगः मिलति। द्रष्टव्यः—

को इमं पठविंविजेस्सति यमलोकं च इमं सदेवकं।
को धम्मपदं सुदेसितं कुसलोपुप्फमिव पचेस्सति॥
सेखो पठविं विजेस्सति यमलोकं च इमं सदेवकम्।
सेखो धम्मपदं सुदेसितं कुसलो पुप्फमिव पचेस्सति॥

— धम्मपद, ४/१, २

अपम् अस्य प्राचीनता सूचकः अस्ति।

२.१.२ धम्मपदस्य विविध-संस्करणानि

२.१.२.१ प्राकृतधम्मपदम्

प्राकृत धम्मपदस्य पालिसंस्करणतिरिक्तं सम्प्राप्त चतुर्संस्करणेषु प्रथमं प्राकृतधम्मपदं वर्तते।

खोतन-स्थाने खरोष्टील्लिप्यां लिखितम् अस्य प्राकृत धम्मपदस्य प्राप्तिः १८९३ वर्षे जाता। इदं भोजपत्रे लिखितं वर्तते। इदं सम्पूर्ण रूपेण

प्राप्तम्। अस्य मूल रूपम् अज्ञातम्। अस्य प्रथमं सम्पादनं फ्रेंच विद्वान् ई० सेना द्वारा कृतम्। तत्पश्चात् अस्य सम्पादनं डा० वेणीमाधव बरुआ द्वारा सुरेन्द्र नाथ मित्रेण च कृतम्। अस्मिन् धम्मपदे द्वादश (१२) अध्यायाः, सप्तपञ्चाशताधिकद्विशताः (२५७) गाथाश्च वर्तन्ते निम्नवतम्—

वर्गक्रम	नाम	गाथाश्लोक संख्या
(१)	मग-वग	३०
(२)	अप्रमाद-वग	२५
(३)	चित-वग	५ अपूर्णम्
(४)	पुष-वग	१५
(५)	सहस-वग	१७
(६)	पनित-वग वा धमठवग	१०
(७)	बाल-वग	७ अपूर्णम्
(८)	जरा-वग	२५
(९)	सुह-वग	२०
(१०)	तष-वग	७ अपूर्णम्
(११)	भिक्षु-वग	४०
(१२)	ब्राह्मण वग	५०

इदं प्राकृत धम्मपदम् अशोकस्य शाहबाजगढ़ी-मनसेहरा-शिलालेख भाषया सह साम्यं धारयति। अनेन स्पष्टं भवति यत् इदं तत्कालिक मध्य एशियालोकभाषायां लिखितम्। इदं खोतनी प्राकृतं प्रभावितं वर्तते। अस्य संवर्धित संस्करणं गान्धारी धम्म पदं कथितम्। (पालि साहित्य का इतिहास, भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ २४५-२४६)।

२.१.२.२ गाथा संस्कृत संस्करणम्

धम्मपदस्य चुह-खि-३-थिंग चीनी अनुवादस्य मूलं गाथा संस्कृतं धम्म पदम् आसीत्। अयम् अनुवाद २२३ ख्रीष्टाब्द वर्षे जातः। अस्य भाषा संस्कृत मिश्रिता आसीत्।

२.१.२.३ संस्कृत संस्करणम्

तुफानि देशे प्राप्तं विशुद्धं संस्कृतं धम्मपदे त्रयत्रिंशत् (३३) अध्यायाः वर्तन्ते। अस्य अनुवादः ८१७-८४२ ई० वर्षे तिब्बती भाषायां कृतः। शकहिलमहोदयेन अस्य अनुवादः “उदानवर्ग” शीर्षकेन कृतः। इदं संस्कृतं धम्मपदस्य प्रतिरूपम् इति स्वीकृतम्।

२.१.२.४ चीनी संस्करणम्

चीनी भाषायां फ-ख्यू-किंग-अनुवादे संस्कृतं धम्मपदस्य मूलत्वं वर्तते। अस्य अनुवाद समयः २२३ ई० वर्तते। मूलम् अनुपलब्धं वर्तमाने। अस्मिन् धम्मपदे नवत्रिंशताः (३९) वर्गाः द्विपञ्चाशताधिक सप्तशताः (७५२) गाथाश्च वर्तन्ते—

वर्ग क्रम	नाम	गाथा श्लोक संख्या
(१)	अनित्यता	२१
(२)	ज्ञानदर्शन	२९
(३)	श्रावक	१९
(४)	श्रद्धा	१८
(५)	कर्तव्यपालन	१६
(६)	विचार	१२
(७)	मैत्री भावना	१९
(८)	संलाप	१९
(९)	यमक-वग्ग	२२
(१०)	अप्रमाद-वग्ग	२०
(११)	चित्त-वग्ग	१२
(१२)	पुप्फ-वग्ग	१७
(१३)	बाल-वग्ग	२१
(१४)	पण्डित-वग्ग	१७
(१५)	अरहन्त-वग्ग	१०

वर्ग क्रम	नाम	गाथा श्लोक संख्या
(१६)	सहस्र-वग्ग	१६
(१७)	पाप-वग्ग	२२
(१८)	दण्ड-वग्ग	१४
(१९)	जरा-वग्ग	१४
(२०)	अत्त-वग्ग	१४
(२१)	लोक-वग्ग	१४
(२२)	बुद्ध-वग्ग	२१
(२३)	सुख-वग्ग	१४
(२४)	पिय-वग्ग	१२
(२५)	क्रोध-वग्ग	२६
(२६)	मल्ल-वग्ग	१९
(२७)	धम्म-वग्ग	१७
(२८)	मग्ग-वग्ग	२८
(२९)	पकिणक-वग्ग	१४
(३०)	निरय-वग्ग	१६
(३१)	नाग-वग्ग	१८
(३२)	तण्हा-वग्ग	३२
(३३)	सेवा वग्ग	२०
(३४)	भिक्षु-वग्ग	३२
(३५)	ब्राह्मण-वग्ग	४०
(३६)	निर्वाण	३६
(३७)	जन्म मृत्यु	१८
(३८)	धर्म-लाभ	१९
(३९)	महा-मंगल	१९

२.१.२.५ धम्मपद-गाथा संख्या

धम्मपदस्य गाथाश्लोक संख्या चतुर्विंशत्याधिकचतुःशतम् (४२४)

इति वर्तते अट्ठ कथानुसारम्। गाथानां विभाजनं षड्विंशति वर्गे कृतं निम्नवत्—

वर्ग संख्या	वर्ग सूची	कुल गाथा-संख्या
(१)	यमक वग्गो	२०
(२)	अप्पमाद वग्गो	१२
(३)	चित्त वग्गो	११
(४)	पुप्फ वग्गो	१६
(५)	बालवग्गो	१६
(६)	पण्डितवग्गो	१४
(७)	अरहन्त वग्गो	१०
(८)	सहस्स वग्गो	१६
(९)	पापवग्गो	१३
(१०)	दण्डवग्गो	१७
(११)	जरा वग्गो	११
(१२)	अत्त वग्गो	१०
(१३)	लोकवग्गो	१०
(१४)	बुद्ध वग्गो	१८
(१५)	सुख वग्गो	१२
(१६)	पिय वग्गो	१२
(१७)	क्रोध वग्गो	१४
(१८)	मल्ल वग्गो	२१
(१९)	धम्मठ वग्गो	१७
(२०)	मग्ग वग्गो	१७
(२१)	पकिण्णक वग्गो	१६
(२२)	निरय वग्गो	१४
(२३)	नागवग्गो	१४
(२४)	तण्हा वग्गो	२६

वर्ग संख्या	वर्ग सूची	कुल गाथा-संख्या
(२५)	भिक्षु वग्गो	२३
(२६)	ब्राह्मण वग्गो	४२

२.१.२.६ धम्मपदस्य भाषा

धम्मपदं पालिसाहित्यस्य एकम् अमूल्यं ग्रन्थरत्नं वर्तते। प्राचीन काले चीनीभाषायां सिंधलभाषायां, तिब्बती भाषायाम् अस्य अनुवादोऽभवत्। इंग्लिश-फ्रेंच-जर्मन-हिन्दी-भाषासु धम्मपदस्य अनुवादाः जाताः। (धम्मपद, भिक्षु धर्मरक्षित, पृष्ठभूमि, पृष्ठ १)।

पालिशब्दो भाषार्थे ऊनविंशति शताब्दि पूर्वं न प्रयुक्तः। संस्कृतस्य प्राचीन प्राकृतम् एव महात्मनः बुद्धस्य समयस्य लोक भाषासीत्। यस्यां बुद्धप्रवचनं भवति स्म। पालिशब्दस्य अर्थः बुद्धवाणी, बुद्धप्रवचनम् इति प्रचलितम् आसीत्। कालान्तरे बुद्धवाणी प्राकृतम् एव पालिभाषा कथिता। अशोक शिलालेखानां भाषापि पाली कथ्यते। धम्मपदस्य संस्कृत छाया अपि प्राप्यते। संक्षेपे धम्मपदस्य मूल भाषा कोसल-मगध-क्षेत्रे प्रचलित जनभाषा प्राकृतम् आसीत् या वर्तमाने पाली इति अभिधीयते।

२.१.३ धम्मपदस्य वर्गाणां सारांशः

(१) यमक वग्गो—अस्मिन् प्रथम वर्गे विंशति गाथाः सन्ति। मनः प्रधानम् इति प्रतिपादितम्। मनः सर्वासां प्रवृत्तीनां सम्प्रेरकः वर्तते। प्रसनमनसा क्रियमाणं कर्मफलं सुखदं भवति। कुमनसा कृत कार्यस्य फलं कष्टप्रदं भवति। वैरेण वैरं शान्तिः न भवति अवैरेण एव वैरं शान्तिः भवति। केवलम् उपदेशं पठनेन न लाभः यावत् तदनुसारम् आचरणं कर्तव्यं पालनं न क्रियते। कर्म प्राधान्यं प्रतिपादितम्।

(२) अप्पमाद वग्गो—धम्मपदस्य अयं द्वितीयवर्गः वर्तते। अस्मिन् द्वादश गाथाः वर्तन्ते। अप्रमादः अमृतपदस्य साधकः, निर्वाणः कथितः। प्रमादं करणं मृत्युपदं कथितः। अस्य वर्गस्य प्रथमगाथां श्रुत्वा सम्राट् अशोको बौद्धो जातः, जनश्रुति इयं प्रचलिता।

अप्रमादेन एव इन्द्रः देवेषु सर्वश्रेष्ठः मान्यः। यः प्रमादं न करोति सः निर्वाणं प्राप्नोति। सर्वे जनाः अप्रमादिनं प्रशंसन्ति प्रमादिनं सदैव निन्दन्ति च।

(३) चित्त वग्गो—अस्मिन् तृतीय वर्गे ११ गाथाः सन्ति। चित्तस्य चंचलतायाः लघुतायाश्च अत्र वर्णनं कृतं वर्तते। चित्तं चंचलं क्षणिकं च। अस्य निरोधः कठिनम् अस्ति। संयमित-चित्तं सुखमयं भवति। मिथ्या-दृष्टिरतचित्तं सर्वाधिकं हानिप्रदं भवति। सम्यक्दृष्टिरत् चित्तं सर्वश्रेष्ठं भवति। यस्य चित्तम् अस्थिरं यः सद्धर्मं न जानाति, यस्य श्रद्धा चंचला तस्य प्रज्ञा पूर्णा भवितुं न शक्नोति। यथा हानिः एकेन शत्रुणा क्रियते तथाधिकं हानिप्रदं भवति असत्यमार्गरतचित्तम्। सन्मार्गे रतचित्तम् अधिकं हितकरं भवति।

(३) पुष्प वग्गो—अयं चतुर्थ वर्गः। अस्मिन् पुष्पवर्गे १६ गाथाः सन्ति। अत्र पुष्पचयन् सदृशम् अत्यधिकं पुण्य कर्म-करणाय निर्देशनं वर्तते। पर दोष दर्शनं न करणीयं, स्वदोषदर्शनम् एव करणीयम्। पुष्पगन्धानुभूतिः वायुप्रवाहविपरीतदिशायां न भवति। परन्तु सज्जनानां सुगन्धिः विपरीत वायुदिशायामपि प्रसरति। सत्पुरुषः सर्वत्र यश सुगन्धिं प्रसारयति। शीलस्य सुगन्धिः सर्वोत्तमा। चंदनागरु सुगन्धिं अल्पमात्रा परन्तु शील सम्पन्नानां सुगन्धिः देवलोक पर्यन्तं गच्छति। यथा पुष्पराशिना बहु-मालाः निर्मीयन्ते, तथैव समुत्पन्नप्राणिना बहुपुण्यं करणीयम्। यथा सुगन्धितं पुष्पं सुन्दरवर्णयुतं भवति तथैव सदाचारशीलानां सुभाषितवाणी सफला भवति। काम-भोग-पुष्पाणि चिन्वन्तं नरं मृत्युः तथैव ग्रसति यथा जलप्रवाहमहोघः सुप्तं ग्रामम्।

(५) बालवग्गो—पंचमे बालवर्गे षोडशाः (१६) गाथाः सन्ति। अस्मिन् कथितं कदापि मूर्खैः सह संगो न करणीयः। सैव मूर्खः यः अल्पज्ञः परन्तु आत्मानं सर्वज्ञः प्रतिपादयति। यदि मूर्खः पण्डितम् आजीवनं पर्युपासति, स धर्मं तथैव न जानाति यथा दर्वी सूपरसं न जानाति। यदि विज्ञ पुरुषः पण्डितं पर्युपासति मुहूर्तमपि सः शीघ्रमेव

धर्मं जानाति यथा सूपरसं जिह्वा जानाति। यावत् पापकर्म-फलं न मिलति तावत् मूर्खाय मधुरं यदा फलं मिलति तदा दुःखप्रदत्तम्।

(६) पण्डितवग्गो-धम्मपदस्य अस्मिन् पष्ठे वर्गे चतुर्दश (१४) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे मेधाविनां प्रज्ञावतां जनानां वर्णनं वर्तते। कुमित्राणां संगः न करणीयः। उत्तम जनैः सह सतसंगकरणीयः। यथा दृढव्रतः वायुना न कम्पते तथैव पण्डिता निन्दया भयभीताः न भवन्ति।

यः धर्मरसस्य पानं करोति सः प्रसन्नचित्तेन सुखेन शयनं करोति। प्रबुद्धपण्डिता उपदिष्ट धर्मे सदैव रमन्ति। धर्मं श्रुत्वा पण्डिताः गम्भीर स्वच्छ निर्मल जलाशय समाः शुद्धाः भवन्ति। पण्डिताः दुर्गुणं त्यक्त्वा सद्गुणं धारयन्तु। पण्डिताः चित्तमलं विहाय शुद्धाः भवन्तु। ये अनाशक्ता अपरिग्रहयुताः ते एव लोके निर्वाणप्राप्ताः सन्ति।

(७) अरहन्त वग्गो-अस्मिन् सप्तमे अर्हन्तवर्गे दशः गाथाः सन्ति। अत्र अर्हन्तानां (ज्ञानिनां) वर्णनं वर्तते। ग्रामे वने निम्ने उच्चे वा यत्र अर्हन्ताः विचरन्ति सा भूमिः रमणीया कामभोगिनः तत्र न रमन्ति।

अर्हत कदापि क्षुब्धो न भवति स सदैव अकम्पमानो भवति। अर्हतः मनः वाणी, कर्म न शान्तं भवन्ति। यो निर्वाणं जानाति तृष्णा त्यागी सैव उत्तम पुरुषः कथ्यते।

(८) सहस्सवग्गो-धम्मपदस्य अस्मिन् अष्टमे साहसवर्गे षोडशाः (१६) गाथाः सन्ति। युद्ध क्षेत्रे सहस्रजनेषु विजयात् आत्मविजयम् उत्तम विजयम् अस्ति। यः शतवर्षं वने हवनं करोति तस्मात् श्रेष्ठतर पूजास्ति एकस्य परिशुद्ध मनः पुरुषस्य मुहूर्तं यावत् पूजनम्। यज्ञ हवनात् अभिवादनं श्रेष्ठतम्। दुराचारिणः शतवर्ष-जीवनात् सदाचारिण एकदिनस्य जीवनं श्रेष्ठम्।

यथायोग्यम् अभिवादनं कुर्वाणः वयोवृद्धानां सेवा कुर्वाणः आयुना विद्यया यशसा बलेन च सदैव बुद्धमेति।

(९) **पाप वग्गो**—पाप वर्गे त्रयोदश (१३) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे मनः पापकर्म विरहितं कृत्वा पुण्यकर्मरतकरणाय वर्णितम्। एक वारं पापं कृत्वा वारं-वारं न कुर्यात्। यदि पुण्यं क्रियते वारं वारं करणीयम् यतः पुण्य करणेन सुखं प्राप्तिः भवति। यथा जलं विन्दुं निपातेन घटं पूर्णं भवति तथैव शनैः शनैः पुण्यसंचयो भवति। मनुष्यः पापं त्यजेत्। मनुष्यः आकाशे समुद्रे पर्वतगुहासु अपि गत्वा पापकर्ममुक्तो न भवति, तथास्थानेषु गत्वा अपि मृत्युतः मुक्तिः न सम्भवा।

(१०) **दण्डवग्गो**—दण्डवर्गे सप्तदशाः (१७) गाथाः सन्ति। दण्डेन मृत्युना च सर्वे भयभीताः भवन्ति। आत्मवत् ज्ञात्वा कस्यापि हिंसा न करणीया कमपि हिंसार्थं न प्रेरयेत्। सर्वे प्राणिनः सुखम् इच्छन्ति। यः स्व सुखाय कस्यापि हिंसां करोति, सः मृत्युं प्राप्त्वा अपि सुखं प्राप्नोति। कटु वचनं न वदेत्। पापकर्म कुर्वन् मूर्खः किमपि न विचारयति परन्तु कालान्तरे स्व कर्म कारणात् अग्निज्वलित इव पश्चात्तापं करोति। यः प्राणीनां कृते दयावान् अस्ति सैव ब्राह्मणः श्रमणः भिक्षुः।

(११) **जरावग्गो**—जरावर्गे एकादशाः (११) गाथाः सन्ति। अस्मिन् जरा विषये उपदेशाः सन्ति। वृद्ध शरीरः जीर्ण रोगानां गृहं भवति। शरीरः क्षणभंगुरः जीवनं मृत्युपर्यन्तम्। राज्ञः सुचित्रितं रथं जीर्णं भवति परन्तु सत्पुरुषाणां धर्मो जीर्णो न भवति। बुद्धस्य सर्वप्रथमवाणी बोधिवृक्षस्य छायायां सम्प्राप्ता-विनावरोधं अनेक जन्मनि जगति धावनं कृतम्। कायारूपगृहस्य निर्माणं तृष्णया बारं-बारं दुःखमय जन्मनि जातः। साम्प्रतं दृष्टम् इदम्। शृङ्खला भग्ना। गृहशिखरं भग्नम्। चित्तं संस्काररहितं जातम् अर्हत्वस्य प्राप्तिः संजाता।

(१२) **अत्तवग्गो**—द्वादशे आत्मवर्गे आत्मोन्नति मार्गः प्रदर्शितः। अस्मिन् षोडशाः (१६) गाथाः सन्ति। अत्रकथितं प्रथमम् आत्मानं सत्मार्गं कुर्यात् तत्पश्चात् अन्येभ्य उपदेशः कुर्यात्। अनेन कष्टं न भविष्यति। पुरुषः स्वस्वामी एव निर्वाणं प्राप्तिः भवति। परहिताय स्वहितस्य हानिः न करणीयाः। स्वलाभं ज्ञात्वा स्व कार्यं कुर्यात्।

(१३) **लोकवग्गो**—लोकवर्गे द्वादशाः (१२) गाथाः सन्ति। अत्र दुष्टकर्मत्यागः, अप्रमादः, आवागमन-चक्रे न पतनं, धर्मस्य आचरणं दुराचरणं न करणम् इति उपदेशाः वर्णिताः। धर्माचारी इहलोके परलोके सर्वत्र सुखं प्राप्नोति। यः पूर्वं प्रमादं कृत्वा पश्चात् प्रमादं न करोति सः लोके मेघमुक्त-चन्द्र-सदृशं इदं लोके प्रकाशयति। असत्यभाषणात् महत्पापं नास्ति। कृपणः देवलोकं न गच्छति। मूर्खाः दानं न प्रशंसन्ति। पण्डितः दानस्य अनुमोदनं कृत्वा परलोके सुखी भवति।

(१४) **बुद्धवग्गो**—बुद्धवर्गे अष्टदशाः (१८) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे भगवतः बुद्धस्य उपदेशानां सारांशः प्रदत्तः। मनुष्य-जन्म प्राप्तिः कठिना। सद्धर्म श्रवणं कठिनम्। बुद्धानां जन्मकठिनम्। पापस्य अकरणं पुण्यस्य संचयनं चित्तशुद्धिः इति बुद्ध शासनं कथितम्। मनुष्यः भयेन पर्वत-वन-उद्यान-वृक्ष-चैत्य-शरणं गच्छति परन्तु इदं शरणं न मंगलदायकम्। अनेन दुःखात् मुक्तिः न भवति। यः बुद्धं धर्मं संघं शरणं गच्छति सैव दुःख मुक्तो भवति। इदमेव उत्तमशरणम्।

(१५) **सुखवग्गो**—सुखवर्गे पंचदशाः (१५) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे तत्सुखस्य महिमा वर्णिता यत् विना धनं केवलं सदाचार-अकिंचनतामयमैत्रीपूर्णं जीवनेन प्राप्तुं शक्यते। विजयं वैरं प्रसारयति। पराजितो दुःखम् अनुभवति। रागादि दोष शान्त पुरुषः सुखी शान्तश्च भवति। आरोग्यः परमो लाभः। संतोषः परमं धनम्। विश्वासः परमो बन्धुः निर्वाणं परमं सुखम्।

(१६) **पियवग्गो**—प्रियवर्गे द्वादशाः (१२) गाथाः सन्ति। प्रियजनेषु आसक्तिः न करणीया। अप्रियसंगः न करणीयः। प्रियाणाम् अदर्शनं दुःखदम् अप्रियाणां दर्शनं दुःखदम् अतः किमपि प्रियं न कुर्यात्। ते बन्धनरहिताः येषां न कोऽपि प्रिय अप्रियः। प्रियतः शोकं भयं च भवति। प्रेम रतिः कामः तृष्णा, भयं शोकम् उत्पन्नं कुर्वन्ति। एतेन रहिताः शोक भय रहिताः भवन्ति।

(१७) **क्रोधवग्गो**—क्रोधवर्गे चतुर्दशाः (१४) गाथाः सन्ति।

अत्र क्रोध त्यागाय उपदेशः प्रदत्तः। अक्रोधेन क्रोधम् साधुतया असाधुं दानेन कृपणं, सत्यभाषणेन असत्यवादिनं जयेत। सत्यभाषणेन, क्रोधं न करणेन, मार्गेण अल्पमपि दानेन पुरुषः देवलोकं गच्छति। लोके अनिन्दितः कोऽपि नास्ति। लोके नास्ति तथा जनः यस्य सदैव प्रशंसा भवति वा सदैव निन्दा भवति। ये शरीर-मन-वाणी द्वारा संयमिताः भवन्ति ते एव पूर्णरूपेण संयताः सन्ति।

(१८) मलवग्गो-मलवर्गे एकविंशति (२१) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे स्वचित्तं निर्मलं कृत्वा आत्मरक्षार्थं द्वीपनिर्माणाय उपदेशः प्रदत्तः। यथा स्वर्णकारः रजतमलं क्रमशः तापेन दूरं करोति तथैव बुद्धिमानपुरुषः स्वचित्तमलं दूरी करोति। यथा लौहस्य मलं लौहम् एव खादति तथैव दुराचारिणं तस्य कुकृत्यम् एव दुर्गतिं नयति। यः परदोष दर्शनं करोति तस्य मल वर्धनं भवति। अपाठः मंत्रमलं, अस्वच्छता गृहमलं, आलस्यं सौन्दर्यमलं, प्रमादः रक्षकस्य मलं, स्त्रीमलं दुराचरणं, दानीमलं कृपणत्वं पाप इह लोके परलोके सर्वत्र मलम्। अविद्या परममलम् इदं मलं त्यक्त्वा निर्मलं भवतु।

(१९) धम्मठ् वग्गो-धर्मस्थ वर्गे सप्तदशाः (१७) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे धर्मस्थ जनानां प्रशंसा कृता वर्तते। को वर्तते पण्डितः धर्मधरः स्थविरः साधुः मुनिः भिक्षुः आर्यः इति विश्लेषणं कृतम्। यः क्षेमवान् अवैरी निर्भयः सः पण्डित उच्यते। यः धर्मे प्रमादं न करोति स धर्मधरः न तु बहुभाषणेन। यस्य शिरः पलितं सः स्थविरः न भवति, यस्मिन् सत्यं धर्मः अहिंसा, संयमः सैव विमलः धीर स्थविरः। द्वेषरहित-मेधावी साधुः कथ्यते। मुण्डितशिरः नास्ति श्रमणः, पापशक्ति एव श्रमणः। ज्ञानलोके च विचरति सैव भिक्षुको न तु याचकः। पापत्यागी एव मुनिः न तु मौनी। सर्वप्राणिनाम् अहिंसक एव आर्य कथ्यते।

(२०) मग्ग वग्गो-मार्गवग्गे सप्तदशाः (१७) गाथाः सन्ति। अस्मिन् निर्वाणगामी मार्गस्य वर्णनं वर्तते। मार्गेषु अष्टांगिकमार्गः, सत्येषु चत्वारि आर्यसत्यानि, धर्मेषु वैराग्यं, द्विपदेषु बुद्धः, श्रेष्ठाः। सर्वे

संस्काराः अनित्याः। वाणीमन संयमः करणीयः। शरीरेण किमपि पापं न करणीयम्। बुद्ध प्रदर्शित मार्गस्य अनुसरणं करणीयम्। मृत्यु समये कोऽपि सम्बन्धीजनः रक्षको न भवति अतः निर्वाण प्राप्त्यर्थं प्रयासः करणीयः।

(२१) **पकिण्णकवग्गो**—प्रकीर्णवर्गे षोडशाः (१६) गाथाः सन्ति। अल्प सुखं त्यक्त्वा अधिकसुखाय प्रयासः करणीयः। श्रद्धावान् शीलवान् यशोभोगसमन्वित जनः यत्र गच्छति तत्र पूज्यते। दूरस्थितसत्पुरुषः हिमालय सदृशः प्रकाशयते। निकटस्थ-असत्पुरुषः रागौ क्षिप्त वाण सदृशो न दृश्यते।

(२२) **निरय वग्गो**—नरकवर्गे चतुर्दशाः (१४) गाथाः सन्ति। असत्यवादी नरो नरकं गच्छति। प्रमादी-परस्त्रीगामी-मनुष्यस्य चत्वारि गतयः भवन्ति—प्रथमम् अपुण्य प्राप्तिः, द्वितीयम् अशान्त निद्रा, तृतीयं निन्दनं, चतुर्थं नरक प्राप्तिः।

(२३) **नागवग्गो**—नागवर्गे चतुर्दशाः (१४) गाथाः सन्ति। अस्मिन् वर्गे गजस्य उपमां दत्त्वा उपदेशः प्रदत्तः। यथा गजः संग्रामे वाणसहनं करोति तथैव कटुवाक्यं सहनं करणीयम् यतः संसारे दुःशीलजना अधिकाः सन्ति। यथा अंकुशेन गजः स्ववशे क्रियते तथैव मननियंत्रणं करणीयम्।

(२४) **तण्हावग्गो**—तृष्णावर्गे षड्विंशति (२६) गाथाः सन्ति। तृष्णा कारणात् एव मनुष्यः दुःखम् अनुभवति। तृष्णा पापानां जननी यः तृष्णा रहितः सः शोकरहितः अतः तृष्णा मूलं तथैव खननीयं यथा खसमूलं खन्यते। रागद्वेष-मोह-इच्छारहित पुरुषः श्रेष्ठः। धर्मदानं सर्वदानं जयति धर्मरसः सर्वरसं जयति धर्मरतिः सर्वरतिं जयति। तृष्णाक्षयं सर्वदुःख समापनं करोति। संसारपारं न गन्तुम् इच्छति यः तं भोगाः नष्टं कुर्वन्ति तृष्णा जाले मूर्खः पतति स्वविनाशं च करोति।

(२५) **भिक्षु वग्गो**—भिक्षुवर्गे त्रयोविंशतितमाः (२३) गाथाः वर्तन्ते। अस्मिन् वर्गे वास्तविक-भिक्षु-स्वरूपवर्णनं कृतम्। भिक्षुः किं कुर्यात् इति उपदेशः प्रदत्तः। भिक्षुः वाणी संयमं करोति, उद्धतो न

भवति। भिक्षुः धर्मम् अर्थम् च प्रकटयति तस्य भाषणं मधुरं भवति। यः भिक्षुः बुद्धशासनेन सम्बद्धो भवति सः मेघमुक्त-चन्द्रमा इव लोकं प्रकाशयति।

(२६) ब्राह्मणवग्गो-अस्मिन् अंतिमे वर्गे एकचत्वारिंशततमाः (४१) गाथाः सन्ति। अत्र ब्राह्मणानां लक्षणं परिभाषा च निरूपितम्। यो निर्वाणप्राप्त अकिंचन अनासक्तः क्षमाशीलः संग्रह रहित अहिंसकः रागादिरहितः सत्यवक्ता आशारहितः, प्रज्ञापूर्णः सैव ब्राह्मणः।

धम्मपदे सामाजिकी सांस्कृतिकी च सामग्री

धम्मपदे वर्ण-व्यवस्थायाः सैद्धान्तिक-पक्षः न प्रस्तुतः तथापि तस्य रत्नाभिः स्पष्टरूपेण प्रतीयते यत् सामाजिक-व्यवस्था चतुर्षु वर्णेषु तत्सम्बद्धासु अनेक जातिषु च विभक्ता आसीत्। ब्राह्मणवर्गस्य अल्पा एव संख्या वर्णव्यवस्थायाः आदर्शानुगामिनी आसीत्। अनेके ब्राह्मणाः कृषि कार्येषु च संलग्नाः आसन्।

धम्मपदे-ब्राह्मणत्व-प्राप्ति गुणानां वर्णनं स्पष्ट रूपेण दृश्यते। बुद्धः तमेव वास्तविक-ब्राह्मणं मन्येत यः तपसा ब्रह्मचर्येण, संयमेन, इन्द्रिय-दमनादिभिर्गुणैश्च युक्तो भवेत्।

हत्थरस जतो पादसज्जतो वाचाव सज्जतो सज्जतो सज्जतुत्तयो
अज्झत्तरतो स माहितो एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खुं॥

—धम्मपद, २५/३

धम्मपदे बुद्धेन प्रोक्तम् यत् मातुः गर्भात् जातत्वात् कश्चिद् ब्राह्मणो न भवति। सः भोवादी संग्रही चास्ति। अहं तमेव ब्राह्मणं ब्रवीमि यः अपरिग्रही त्यागी च स्यात्।

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्ति सम्भवं।

“भो वादि ” नाम से हीति स चे होति सकिच्चनो।

अकिंचनं अतादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—धम्मपद, २६/१४

यः मानव-बन्धनेभ्यो दिव्य-बन्धनेभ्यः सर्व-बन्धनेभ्यश्च रहितोऽस्ति
स ब्राह्मणः प्रोच्यते।

हित्वा रतिं च अरतिं च सीतिभूतं निरुपधिं।

सव्वलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—धम्मपद, २६/३६

भगवता बुद्धेन धम्मपदे इदमपि प्रोक्तम् यत्—कोऽपि जनो
जटाधारणनेन, गोत्रेण, जन्मना च ब्राह्मणो न भवति यस्मिन् सत्यपालनस्य
धर्म-पालनस्य च क्षमता स्यात् स एव ब्राह्मणोऽस्ति।

क्षत्रिय शब्दस्य वैश्य-शब्दस्य च धम्मपदे स्पष्टतया उल्लेखो न
दृश्यते। धम्मपदे ईदृशीनाम् अनेक-जातीनाम् उल्लेखो वर्तते ये कर्मकराः
वक्कसाश्च प्रोक्ताः इमे शूद्रवर्णाः एव स्वीकृताः। वस्तुतः विभिन्नाः
शिल्पकाराः शूद्रवर्णान्तर्गता एव सन्ति। घन (हथौड़ा) कुठार-तक्षण्यादि-
कर्तारः लौहकाराः, तक्षाणः (वढ़ई) अस्यैव वर्गस्य सदस्याः आसन्।
एवमेव शिल्पादिकार्य-कर्तृणाम् भिन्नः समूहः आसीत् यः
स्वजातीय-व्यापारम् करोति स्म। ईदृशाः अनेकाः जातयः आसन् याः
स्व-व्यापार-कारणत्वं विख्याताः आसन्। तन्तुवाय-वार्धकि-लौहकार-
दन्तकार-कुम्भकारादयो विभिन्नाः शूद्र-वर्गा आसन्।

दासप्रथा

बुद्धः दास-प्रथायाः समाप्तिं समर्थितवान्। दास-दासी-प्रतिग्रहणम्
अनुचितं कथितम्।

पारिवारिक जीवनम्—धम्मपदे पारिवारिक जीवनस्य क्रमबद्धम्
विवरणं न दृश्यते तथापि तस्मिन् काले वर्णाश्रयातिरिक्तेषु विभिन्न-परिवारेषु
विभक्तः आसीत्। इमे परिवाराः लघवो विशालाः सर्वविधाः आसन्।
सामान्य-रूपेण एकस्मिन् परिवारे माता-पितरौ बन्धु-बान्धवाश्च
आसन्।

नारी विभिन्नरूपेण दृश्यते यथा—माता, पत्नी, भगिनी, बधूः,
पुत्री, पुत्रवधू, वेश्या, भिक्षुणी, उपासिका प्रभृतयः। भिक्षुण्याः

उपासिकायाश्च उल्लेखो धम्मपदे कुत्रापि न प्राप्यते। मातापित्रोः विषये भगवता बुद्धेन प्रोक्तम् यत् संसारे माता-पित्रोः सेवा परम-सुखदायिनी अस्ति। (धम्मपद, २३/१३)।

संस्कारः—निवृत्ति-परक-धर्मत्वात् ज्ञान-साधना-निर्वाणानां मूलप्रश्नावधि-सीमितत्वाच्च ग्रन्थेषु तत्कालीन-समाजे प्रचलितानाम् संस्काराणाम् विस्तृत विवरणानि न प्राप्यन्ते। धम्मपदे केचित् स्थलाः ईदृशाः प्राप्यन्ते येषु मृत्योः पश्चात् शव-क्रिया कथं क्रियते स्म अस्य स्वल्पम् विवरणम् उपलभ्यते। ग्रन्थे कायानुपश्यनायाः उपदेशम् कुर्वता भगवता बुद्धेन भिक्षून् श्मशाने पतितान् मृतक-शरीरान् दर्शयित्वा स्व-शरीरस्य वास्तविक-स्थितेः ज्ञान-प्राप्तेः उपायः वर्णितः। बुद्धः भिक्षून् उपदिशति एकाहिक-द्वयहिन-त्रयहिक-मृतकान् पश्य ये उत्फुल्लशरीराः, नीलवर्ण-कायाः, शोणित-पूर्णाः, काक-गृद्ध-चिल्ल-कुक्कुरादिभिः मांसभक्षिभिरनेकैः जीवैः भक्ष्यमाणशरीराः, केचित् समांसाः केचित् मांस-रहिताः केवल अस्थि-कंकालावशिष्टाः सन्ति। एवं श्मशान-प्रक्षिप्तापध्यालाबुवत् म्लानानि भूत-शरीराणि दर्शयित्वा स्वशरीरस्य नश्वरता-विषये विचारं कर्तुं भिक्षुं प्राह अस्य शरीरस्य स्थितिः अनित्या अस्ति।

खाद्य सामग्री—धम्मपदे खाद्य-सामग्री खादनीयशब्देन भोजनीय-शब्देन वा निर्दिष्टा। भोज्य पदार्थेषु दुग्धस्य, दुग्ध निर्मितानामनेक द्रव-पदार्थानां च प्रयोगः प्रचलितः आसीत्। एषु दुग्धं, दधि, तक्रं, नवनीतं, घृतम् इत्यादीनि प्रमुखान्यासन्। दुग्धे तण्डुलानि प्रक्षिप्य पायस-निर्माणम् अति प्रचलितम् आसीत्। धम्मपदे दुग्धात् दधि निर्माणं वर्णितमस्ति। तस्मिन् काले द्विदलस्य प्रयोगः क्रियते स्म। द्विदलं कस्यान्नस्यासीत् अस्य उल्लेखो न प्राप्यते। भोजनस्य पेयस्य च मधुरीकारक-तत्त्वेषु इक्षुरसस्य, इक्षुरसनिर्मितस्य गुडस्य शर्करायाश्च उल्लेखोऽस्ति।

मादक-पेयानि—तत्कालीन प्रचलितानाम् मादक-पेयानाम् अपि उल्लेखः प्राप्यते। धम्मपदे भगवता बुद्धेन प्रोक्तम् यत् योजीवहिंसां

करोति, असत्यं वदति, चौर्यम् करोति, परस्त्री-गमनं करोति, सुरां पिबति, सः अस्मिन् संसारे स्वयमेव मूलम् खनति। (धम्मपद, १८/१३)।

सुरा-विक्रयः अनुचितः कथितः किन्तु रोगावस्थायाम् सुरा-प्रयोगो वर्जितो नासीत्।

वेश-भूषा—धम्मपदे भगवता वुद्धेन प्रोक्तम् यत्-वेश धारणेन ज्ञान-प्राप्तिर्न भवति। वेषधारणस्य सार्थकता इयमेवास्ति यत् चित्त-मलानाम् परित्यागो भवेत्। ये चित्त-मलाहरणं विना काषाय-वस्त्राणि धारयन्ति। सः संयम-सत्याभावे काषाय-वस्त्र-धारणस्य अधिकारी नास्ति।

येन चित्तमलाः नाशिताः, यः शीले प्रतिष्ठितोऽस्ति, यः संयम-सत्य-युक्तोऽस्ति सः एव काषाय-वस्त्र-धारणाधिकारी अस्ति।

जटाभिः गोत्रेण, जन्मना वा कोऽपि ब्राह्मणो न भवति। स एव ब्राह्मणोऽस्ति यः सत्यवादी धर्मशीलश्चास्ति। यस्मिन्नेते गुणाः सन्ति स एव पवित्रोऽस्ति।

यदि चित्तं राग-द्वेष-मलादिभिः अपवित्रमस्ति तर्हि जटाभिः मृग-चर्मणा वा किं भविष्यति। बाह्य-रूप-वर्णादयो मानव-परिचायकानि न सन्ति।

अलंकाराः—धम्मपदे अलंकाराणां विषये विशेषोल्लेखो न प्राप्यते। सम्भवतः तस्मिन् काले समृद्ध वर्गस्य स्त्रीषु विशेषतो गणिकासु स्वर्णमयाभूषणानाम् अधिकम् प्रचलनमासीत्।

धम्मपदे मणिकुण्डलानां उल्लेखोऽस्ति तानि अति-कलात्मक-शैल्या निर्मितानि अभवन्।

प्रसाधन सामग्री—धम्मपदे तत्कालीन समाजे प्रचलितानां कतिपयानां महत्त्वपूर्णानां प्रसाधनानां वर्णनमपि प्राप्यते। नरा नार्यश्च विविध-विधानां प्रसाधनानां उपयोगं कुर्वन्ति स्म। प्रसाधने पुष्पाणाम् पुष्पमालानां च महत्त्वपूर्णम् स्थानमासीत् येषां प्रयोगः केश-विन्यासे

भवति स्म। केशेषु तैल-मर्दनस्य प्रचलनमासीत्। तानि तैलानि सम्भवतः पुष्पेभ्य एव निर्मायन्ते स्म। पुष्पेभ्यः विविधानि सुगन्ध-द्रव्याण्यपि निष्कास्यन्ते स्म। धम्मपदे कुशल-मालाकाराणां वर्णनमस्ति कोसलराजस्य प्रसेनजितस्य महिषी मल्लिका एकस्य मालाकारस्य पुत्री आसीत्। धम्मपदे चन्दन-तगर-कमल-यूथिकादीनां सुगन्धित-वृक्षाणां वर्णनं प्राप्यते।

शिल्पकला—काष्ठ-कर्म-कर्तारो वार्धकिनः तक्षाणो वा प्रोच्यन्ते स्म। एतेषां कर्म भवन-निर्माणम्, कलात्मक-वस्तु-निर्माणम् कृपि-वस्त्रोद्योग-सम्बन्धितानाम् उपकरणानाम् क्रीडनकानां च निर्माणमप्यासीत्। एतदतिरिक्तं ते रथ-शकटादीनाम् अंग-प्रत्यंगानाम् निर्माणम् अकुर्वन्। काष्ठ-कर्म-कर्ता धम्मपदे तक्षकः प्रोक्तः।

कृपिकार्योपयोगिनां सर्वेषामुपकरणानां लौहादेव निर्माणं क्रियते स्म तेषां निर्मातारश्च लौहकाराः तक्षकश्च कथ्यन्ते स्म। बाण-निर्मातारः चापकाराः इपुकाराश्च कथ्यन्ते स्म।

इमे इपुकाराः अति-दक्षतया बाणानां निर्माणमकुर्वन्। धम्मपदे इपुकार-निर्मितस्य सरलाकारस्य बाणस्य प्रशंसा कृतास्ति।

अस्मिन् ग्रन्थे लौह-विनाशस्य अपि उल्लेखः कृतोऽस्ति।

स्वर्णकाराः—दक्षः स्वर्णकाराः तच्छिष्याश्च शुद्धपरिष्कृता-स्वर्णात् अलंकारादीनां निर्माणम् कृत्वा स्व-दक्षतायाः प्रदर्शनम् अकुर्वन्।

धम्मपदस्य एकया उपमया ज्ञायते यत् कम्मारः स्वर्णकारश्च क्रमशः रजतमलम् दूरी करोति। इदं रजतमल-शोधनम् कस्यचित् अम्ल-पदार्थस्य सहायतया क्रियते स्म।

वस्तु-विनिमयेन सह तस्मिन् काले मुद्राणामपि प्रचलनमासीत्। तत्कालीनाः प्रमुखं मुद्राः कार्षापणाः (कहापणाः) कथ्यन्ते स्म। तेषामुल्लेखो धम्मपदे प्राप्यते।

गुरुकुल परम्परा—तस्मिन् काले गुरु-शिष्य परम्परापि गुरुकुले

प्रचलिता आसीत्। भगवता बुद्धेन भिक्षवः उपदिष्टाः यत् ते स्वगुरुम् प्रति स्व-गुरुजन-तुल्य-जनान् प्रति च आदर-सत्कार-भावम् व्यवहारे प्रदर्शयेयुः।

उपासकेभ्योऽप्युपदेशः प्रदत्तः यत् ते स्वमाता-पित्रोः, अग्रजस्य, गुरुणां च सम्मानं कुर्युः। एवं विधं वन्दनं मनसो वचसो कायस्य च सः प्रशस्त व्यापारोऽस्ति। येन पथ-प्रदर्शकम् गुरुं प्रति साधन-रतान् साधकान् प्रति च श्रद्धायाः आदरस्य च प्रदर्शनं क्रियते स्म।

अस्मिन् व्यापारे ते जनाः प्रणम्यन्ते ये साधना-मार्गे अपेक्षाकृत रूपेण अग्रगामिनः सन्ति।

वन्दन-सम्बन्धे बुद्ध-वचनमस्ति यत् पुण्याभिलाषीजनो वर्ष-पर्यन्तं यान् यज्ञान् वने करोति तेषां फलं पुण्यात्मनोऽभिवादन-फलस्य चतुर्थांशोऽपि न भवति। अतः सरल-वृत्तीनां मतात्मनाम् अभिवादनम् अति-श्रेयस्करमस्ति।

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् सदा वृद्धोपसेविनः अभिवादन-शीलस्य जनस्य आयुः, सौन्दर्यम्, सुखम् बलम् एतानि चत्वारि वर्धन्ते।

पशु-पालनम्-धम्मपदे वर्णितं यत् बुद्ध कालीन-समाजे पशवोऽपि सम्पत्ति-रूपेण गृह्यन्ते स्म। तेषु पशुषु गजाश्वादयो युद्धोपयोगिनः पशवोऽप्यासन्।

धम्मपदे महानाग-धनपालक राज्ञ्योः उल्लेखोऽस्ति। यदा मदोन्मत्तो गजः बन्धनं भङ्त्वा पलायने स्म तदा गज चालकः तम् अंकुशेन वशीकरोति स्म। गजाः अश्वाश्च पशुषु श्रेष्ठतमाः मन्यन्ते स्म। एतदतिरिक्तम् अश्वतरयनाम् शूकराणां चापि उल्लेखो धम्मपदे प्राप्यते।

पूजा-अर्चना-तत्कालीन समाजे देवी-देवानां पूजा प्रचलिता आसीत्। पूजकानां संख्या सर्वाधिका आसीत्। ब्राह्मण-धर्मावलम्बिनम् धम्मपदे बुद्धोऽपि इन्द्रम् देवराजं मन्यते स्म। तस्य नामानि शक्र-वासव मघवादीन्यासन्। 'मघवा' इति शब्दस्योल्लेखो धम्मपदे प्राप्यते। किन्तु तस्य कार्याणां निवास-स्थानस्य च वर्णनं नोपलभ्यते।

धम्मपदेन (धम्मपद, १४/१०, ११) एतदपि प्रतीयेत यत् तत्कालीन समाजे वृक्षदेवता-वनदेवी-चैत्य-पर्वत-कूप-यक्ष-गन्धर्व-नागादीनामपि पूजा भवति स्म।

वृक्षाः देवतानाम्, अप्सरसाम्, नागानां, प्रेतानां च निवासस्थानानि मन्यन्ते स्म। जनाः स्व-कामना-पूर्त्यर्थम् वृक्षोपासनामकुर्वन्। जनाः वृक्षवासिनाम् प्रेतात्मनाम् नागानां च भयस्य निवारणार्थं वृक्षाणां पूजामकुर्वन्।

वस्तुतः वृक्षाणां पूजनं न क्रियते स्म किन्तु वृक्षवासिनः देवस्य प्रेतात्मनो वा पूजा क्रियते स्म। ग्रामीण जनतायाम् वर्तमानकालेऽपि एष विश्वासः प्रबलोऽस्ति। अनेनैवाधारेण पिप्पलादयो वृक्षाः देव-स्वरूपाः मन्यन्ते। यदा एभ्यः दार्शनिकः आधारः प्रदत्तः तदा समस्ता प्रकृतिः परमेश्वरस्य अभिव्यक्तिः स्वीकृता किन्तु जनतायाः विश्वासः अनेन मूलरूपेण अक्षुण्णः अभवत्।

स्वर्ग-नरकौ-स्वर्ग-नरकयोः उल्लेखोऽपि धम्मपदे प्राप्यते। भगवतो बुद्धस्य वचनानुसारम् कर्तव्य-परायणाः जनाः स्वर्गलोकम् गच्छन्ति।

दुष्कर्म-कर्ता इहलोके परलोके च दुःखम् प्राप्नोति। स्व-कर्म-दुष्परिणामं दृष्ट्वा सः शोचति नश्यति च।

पुण्य-कर्म-कर्ता इहलोके परलोके च मोदते तथा स्वकर्मणां पवित्रतां दृष्ट्वा सुखी भवति।

सामाजिक-दशा-तत्कालीन समाजे शिल्पकाराणां दशा उत्तमासीत्। उद्योगाः सुचारु-रूपेण संचलन्ति स्म। आर्थिकी स्थितिः समीचीना आसीत्।

उपसंहार

धम्मपदे सामाजिक-संरचनायाः यच्चित्रं चित्रितमस्ति तस्मिन् हिन्दुजातीय-वर्णव्यवस्थायाः सैद्धान्तिक-पक्षस्य किमपि वर्णनं नास्ति

किन्तु व्यवहारे प्रचलितानां समाजस्य चतुर्णां वर्णानाम् तेषां वर्णानाम् अन्तर्गतानाम् अनेकानाम् जातीनाम् च वर्णनमस्ति। वर्णाः कर्म-प्रधानाः आसन् किन्तु तेषु वर्णेषु जन्मजात-श्रेष्ठतायाः जन्मजान-हीनतायाश्च भावना बद्धमूला आसीत्।

धम्मपदे शूद्राणां कोऽप्युल्लेखो नास्ति। चाण्डाल-निषादादीनाम् कतिपयानां हीनजातीनां वर्णनमस्ति। एतदतिरिक्तम् कुटुम्ब-परिवार विवाह भोजन-पान-वस्त्राभूषणानां सामान्य प्रयोगस्य च वस्तूनां विवरणं प्राप्यते।

धम्मपदे ब्राह्मणानां यज्ञ-परम्परायाः अपि वर्णनं प्राप्यते एतेन सार्धमेव सामान्य-जनानाम् धार्मिकानाम् आचार-विचाराणां देव-देवीनां च वर्णनमप्यस्ति।

२.२.० समण सुत्तस्य परिचयः

जैनधर्मदर्शनस्य सारभूततत्त्वानां संक्षिप्तं क्रमबद्धं संकलनं 'समणसुत्तं' वर्तते। ग्रन्थस्य संरचना प्राकृत-गाथाभ्यः कृता। जैनाचार्यैः प्राकृतगाथां सूत्रम् इति कथितम्। प्राकृतस्य 'सुत्त' शब्दस्य अर्थः सूत्रं, सूक्तं, श्रुतम् अपि भवति। 'श्रमण' शब्दस्य तात्पर्यं मोक्षमार्गे श्रमकर्ता, समताधारी, वीतरागी, संयत जनश्च। एतदनुसारं ग्रन्थस्य नाम श्रमणसुत्तं संजातम्।

ऐतिहासिक-घटना—भगवता महावीरस्य २५०० तमे निर्वाण वर्षे दिल्ली नगरे २९-३० नवम्बर १९७४ ईस्वी दिनांके (समणसुत्तं, पृष्ठभूमि, पृष्ठ ७) जैन संगीति सम्मेलने त्रिशत् (३००) विद्वद्भिः सर्वविध योगदानं कृत्वा समणसुत्त ग्रन्थः सर्वमान्यः घोषितः। द्विसहस्रवर्ष पश्चात् एतादृशं सम्मेलनं समायोजितम्।

समण सुत्तस्य संकलनम्—जैनधर्मस्य मुख्य सम्प्रदायाः वर्तन्ते दिगम्बरः, श्वेताम्बरः, तेरापन्थी, स्थानकवासी तारणतरण पन्थश्च। एतेषां सर्वेषां साहित्ये अपि विभिन्नता वर्तते।

संतं विनोवासम्प्रेरणया यथा वैदिक धर्मस्य सारांशः गीतायां सप्तशतेषु (७००) श्लोकेषु प्राप्यते, बौद्धानां धम्मपदे वर्णितं तथैव समणसुत्तस्य संकलनं प्राचीनजैनपरम्परानुसारं कृतम्।

(२) समण सुत्तस्य पूर्व-रूपाणि—समण सुत्तस्य प्रारम्भिक-संकलनं जिनेन्द्र वर्णीजी महोदयेन कृतम्। सर्वप्रथमं 'जैन धर्मसार' नाम्ना एकं संकलनं प्रकाशितम्। तदनन्तरं विविध विचाराणां मतानां प्रस्तावित संशोधनानां समन्वयं कृत्वा द्वितीयं संकलनं पं० दलसुखभाई मालवणिया द्वारा कृतम्। तत्पश्चात् सन्त काननजी स्वामी प्रेरणया डा० हुकुमचंद जी मारिल्लेन संकलनाय उपयुक्तगाथाः सूचिताः। (समणसुत्तं, पृष्ठभूमि, पृष्ठ ४)। डा० कमलचन्दजी सोगानी द्वारा अध्ययनं कृत्वा मार्गदर्शनं कृतम्। सर्वेषाम् अवलोकनं कृत्वा श्री वर्णीजी महोदयेन तृतीयं संकलनं प्रस्तुतम्।

दिल्ली संगीति सम्मेलने विचारार्थं प्रस्तुत 'जिणधम्म' संकलनं परिमार्जितं परिपूर्णं करणे पं० दलसुखभाई-मुनि श्रीनथमल डा० ए०एन०उपाध्ये, डा० दरवारीलाल कोठिया इत्यादि विदुषाम् उल्लेखनीयं योगदानं जातम्। दिन द्वयस्य समन्वयात्मक संगीति सम्मेलने चतुरोपवेशनानाम् अध्यक्षता क्रमशः श्रीसुशीलकुमारमुनि श्री नथमल-मुनि श्रीजनकविजय उपाध्याय मुनि श्री विद्यानंद-महोदयैः सम्पादिता। चतुरोपवेशनानि आचार्य तुलसी आचार्य श्री धर्मसागर आचार्य विजय समुद्र सूरि-आचार्य देशभूषण विदुषानाम् आशीर्वचनं प्राप्तम्।

ग्रन्थस्य अंतिमप्रारूपं संगीतिसमारोहस्य चत्वारः अध्यक्षः जिनेन्द्रवर्णी प्रस्तुतवन्तः। एतदर्थं प्रारम्भतः अंतं पर्यन्तम् अणुव्रत आंदोलनं प्रवर्तक-आचार्य तुलसी महोदयस्य मार्गदर्शनं प्राप्तम्। (समणसुत्तं, पृष्ठभूमि, पृष्ठ ५)। अणुव्रतविहारे, जैन बालाश्रमे च समायोजितं द्वि दिवसीय सम्मलेनमिदं, सफलं कर्तुं श्रावकशिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद जैनः तस्य धर्मपत्नी रमारानी जैनः प्रभुदयाल जी डाभडीवाला महोदयश्च योगदानं दत्तवन्तः। (समणसुत्तं, पृष्ठ ५)।

“समणसुत्तस्य गाथानां भाषा प्राकृतं वर्तते। पं० वेचरदास महाभागेन संस्कृत छायायाः संशोधनं परिमार्जनं कृतम्। अस्य ग्रन्थस्य हिन्दी अनुवादः पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्रिणा श्री नथमल जी मुनिना च कृतः।

(३) समणसुत्तस्य रूपरेखा—जैनमतावलम्बिनां कृते ‘सप्त’ संख्या बहुप्रिया। सप्तसंख्यायाः अष्टाधिकशतेन गुणितं कृत्वा षटपंचाशताधिकसप्तशतम् (७५६) इति संख्या प्राप्यते। सर्वसम्मत्या षटपंचाशताधिक सप्तशतम् एव गाथाः गृहीताः। समणसुत्ते चत्वारः (४) खण्डाः चतुर् चत्वारिंशत् (४४) प्रकरणानि सन्ति। विवरणं निम्नवत् अस्ति—

प्रथमः खण्डः—ज्योतिर्मुखम् १-१५ सूत्रम्

सूत्र सं०	सूत्र नाम	गाथा संख्याः
१.	मंगल-सूत्रम्	१-१६
२.	जिनशास्त्र-सूत्रम्	१७-२४
३.	संघ-सूत्रम्	२५-३२
४.	निरूपण-सूत्रम्	३२-४४
५.	संसार-चक्र-सूत्रम्	४५-५५
६.	कर्म-सूत्रम्	५६-६६
७.	मिथ्यात्व-सूत्रम्	६७-७०
८.	रागपरिहार-सूत्रम्	७१-८१
९.	धर्म-सूत्रम्	८२-१२१
१०.	संयम-सूत्रम्	१२२-१३९
११.	अपरिग्रह-सूत्रम्	१४०-१४६
१२.	अहिंसा-सूत्रम्	१४७-१५९
१३.	अप्रमाद-सूत्रम्	१६०-१६९
१४.	शिक्षा-सूत्रम्	१७०-१७६
१५.	आत्म-सूत्रम्	१७७-१९१

द्वितीय खण्डः—मोक्षमार्गः १६-३३

सूत्र सं०	सूत्र नाम	गाथा संख्याः
१६.	(१) मोक्षमार्ग-सूत्रम्	१९२-२०७
१७.	(२) रत्नत्रय-सूत्रम्	२०८-२१८
१८.	(३) सम्यक्त्व-सूत्रम्	२१९-२४४
१९.	(४) सम्यग्ज्ञान-सूत्रम्	२४५-२६१
२०.	(५) सम्यक्चरित्र-सूत्रम्	२६२-२८७
२१.	(६) साधना-सूत्रम्	२८८-२९५
२२.	(७) द्विविधधर्म-सूत्रम्	२९६-३००
२३.	(८) श्रावक धर्म-सूत्रम्	३०१-३३५
२४.	(९) श्रमण धर्म-सूत्रम्	३३६-३६३
२५.	(१०) व्रतसूत्रम्	३६४-३८४
२६.	(११) समिति-गुप्ति सूत्रम्	३८४-४१६
२७.	(१२) आवश्यक-सूत्रम्	४१७-४३८
२८.	(१३) तप-सूत्रम्	४३९-४८३
२९.	(१४) ध्यान-सूत्रम्	४८४-५०४
३०.	(१५) अनुप्रेक्षा सूत्रम्	५०५-५३०
३१.	(१६) लेश्या सूत्रम्	५३१-५४५
३२.	(१७) आत्मविकास सूत्रम् (गुणस्थान)	५४६-५६६
३३.	(१८) संलेखना सूत्रम्	५६७-५८७

तृतीय-खण्डः—तत्त्व-दर्शनम् ३४-३६

सूत्र सं०	सूत्र नाम	गाथा संख्याः
३४.	(१) तत्त्वसूत्रम्	५८८-६२३
३५.	(२) द्रव्यसूत्रम्	६२४-६५०
३६.	(३) सृष्टिसूत्रम्	६५१-६५९

चतुर्थ-खण्डः—स्याद्वादः ३७-४४

सूत्र सं०	सूत्र नाम	गाथा संख्याः
३७.	(१) अनेकान्तसूत्रम्	६६०-६७३
३८.	(२) प्रमाणसूत्रम्	६७४-६८९
३९.	(३) नयसूत्रम्	६९०-७१३
४०.	(४) स्याद्वाद व सप्तभंगी सूत्रम्	७१४-७२१
४१.	(५) समन्वयसूत्रम्	७२२-७३६
४२.	(६) निक्षेप-सूत्रम्	७३७-७४४
४३.	(७) समापन-सूत्रम्	७४५-७४९
४४.	(८) वीर-स्तवन सूत्रम्	७५०-७५६

२.२.१ समण सुत्तस्य सारांशः

२.२.१.१ प्रथमखण्डः—ज्योतिर्मुखम्

अस्मिन् खण्डे पंचदशानि (१५) प्रकरणानि एकनवत्याधिकेकशताः (१९) गाथाश्च सन्ति। अत्र साधको बाह्यसामान्यजीवनं न पश्यति अपितु जीवनस्य सारभूतम् अध्यात्मदृष्ट्या अन्तस्तत्त्वं प्रेक्षते। सः सांसारिक-विषयभोगाः साररहिताः दुःखमयाः जन्मजरामृत्यु संसारहेतवः सन्तीति विज्ञाय ततो विरतो जायते। आत्मध्यानकर्ता कर्मभिर्न बध्यते। सुगतिमार्गज्ञानाभावात् मूढमतिर्जायते। रागद्वैषौ स्वपरमशत्रुं मत्वा सः विभिन्नैः प्रकारैरनयोः परिहारस्य उपायं चिन्तयति तथा क्रोध-मान-माया-लोभ-स्थाने क्षमा-मार्दव-सरलता सन्तोषादिगुणान् आश्रयते। कषायान् निगृह्य विषयेन्द्रियादिकं नियन्त्रयति, प्राणिनां सुख-दुःखयोरनुभवं करोति, यथाशक्ति परिग्रहं परिहरति च। संसारे अहिंसासमोऽन्यः कश्चिद् धर्मो नास्ति। अप्रमादी पुरुषः पण्डितो भवति। स्व परं प्रति जागरूको भवति। अयं साधको मोक्षमार्गे निर्भीकभावेन विचरति।

(१) मङ्गलसूत्रम्—अस्मिन् षोडशाः (१६) गाथाः सन्ति। अत्र सर्वार्हत-सिद्ध आचार्य-उपाध्याय-लौकिकसर्वसाधून् प्रति नमस्कारः कृतोऽस्ति।

वर्णितुम् अस्ति यत्—मङ्गलस्वरूपाः लोकोत्तमाः धर्मशत्रुविजेतारः पञ्चगुरुवो ध्यातव्याः। चन्द्रादधिकमङ्गलं सूर्यादधिकप्रकाशकं अपांपतिमिव अगाधं भगवन्तं सिद्धं सर्वश्रेष्ठं कथयित्वा मुक्तिः याचितास्ति।

(२) जिनशासन सूत्रम्—अत्र अष्टौ गाथाः सन्ति। जिनवचनं सर्वदुःख-क्षयकारकं अमृतमिवौषधमस्ति। श्रुतज्ञानरूपिणे महासिन्धुवे नमस्कारः कृतः अस्ति। अर्हदुपदिष्टं श्रुतिवचनमागम एव सत्यार्थ बोधकोऽस्ति। जिन वचनेऽनुरक्ताः अल्पजन्ममरणधर्माः भवन्ति। यः स्व समये परसमययोः ज्ञाता गम्भीरः दीप्तिमान् कल्याणकारी सौम्य स्वभावः शतगुणैर्युक्तश्चास्ति स एव निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य सारं कथयितुं अधिकारी अस्ति। आत्मेप्सितम् अन्येभ्योऽपि करणीयम् इदमेव जिनशासनमस्ति। अयमेव तीर्थकरस्य सन्देशोऽस्ति।

(३) संघ-सूत्रम्—अत्र प्रकरणे सप्ताः गाथाः सन्ति। अत्र कथितमस्ति यत् यः दर्शनस्य, ज्ञानस्य चरित्रस्य संघातं करोति, स एव संघः अस्ति। रत्नत्रयमेव गणः अस्ति। मोक्षमार्गे गमनमेव 'गच्छ' इति अस्ति। गुणानां समूह एव संघोऽस्ति। निर्मलः आत्मा एव च समयः अस्ति। संघः कमलवद् अस्ति। संघः कमलरजरूपि जलराशिना कमलमिव उपरिस्थितमालिप्तं च वर्तते।

(४) निरूपण सूत्रम्—अत्र त्रयोदश गाथाः सन्ति। अत्र उच्यते यत् ज्ञानं प्रमाणमस्ति। ज्ञातुः हृद्गतोऽभिप्रायः अस्ति। ज्ञानस्य उपायः निक्षेप इति कथ्यते। एवं निश्चय पूर्वकमर्थग्रहणं कर्तव्यम्। निश्चयः व्यवहारश्च इति द्वौ नयौ समस्त नयानां मूले स्तः। यः एकस्य अखण्डवस्तुतः विविधं धर्मेषु कथंचित् भेदस्य उपचारं करोति सः व्यवहारनयः अस्ति। यः एवं न करोति अर्थात् अखण्ड पदार्थस्य अनुभवम् अखण्डरूपेण करोति सः निश्चयनयः अस्ति।

(५) संसार चक्र सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे दश गाथाः सन्ति। अत्र कथितम् यत् जन्म दुःखम् अस्ति। वार्द्धक्यं दुःखमस्ति। रोगः दुःखं मृत्युश्च दुःखमस्ति। संसार एव दुःखम् अस्ति। यत्र जीवाः क्लेशम्

लभन्ते। संसारः क्षणभंगुरः अस्ति। कर्मानुसारं कदापि जीवः दुःखी भवति, कदापि सुखी च भवति। मनुष्यः कामजन्यं दुःखं सुखं मन्यते। कर्म बन्धनः पुरुषः मक्षिकेव अस्ति। मानवः मोहग्रन्थिना सुदृढः अस्ति। कर्मबन्धन कारणाद् जीवः चतुर्भिः गतिभिः गमनं करोति। जन्म धारयति जन्मना शरीरं शरीरे च इन्द्रियाणि प्राप्नोति। तैश्च जीवः विषयान् ग्रह्णाति। तेन च राग द्वेषौ जायते। एवं जीवः संसारचक्रे परिभ्रमति।

(६) कर्मसूत्रम्—अत्र एकादश गाथाः सन्ति। अत्र उच्यते यत् जीवस्य दुःखानि ज्ञातिः भिन्नवर्गः पुत्रः बान्धवश्च न विभजति। सः एकाकी एव दुःखम् अनुभवति यतः कर्म कर्तारम् अनुगच्छति। जीवः कर्मणः बन्धनं कर्तुं स्वतन्त्रः अस्ति। परन्तु तत्कर्मोदये भोक्तुं सः तदधीनः भवति। यथा कश्चित् पुरुषः स्वेच्छया वृक्षमारोहति किन्तु प्रमादवशात् अधः पतने परवशः भवति।

(७) मिथ्यात्व सूत्रम्—अत्र चतस्रः गाथाः सन्ति। यः जीवः मिथ्यात्वेन ग्रस्तः भवति तस्य दृष्टिः विपरीता भवति। तस्यै कर्मः न रोचते यथा ज्वर ग्रस्ताय मधुररसोऽपि न रोचते। मिथ्यादृष्टिः जीवः तीव्रः कषायेन आविष्टो भूत्वा जीवं शरीरं च एकम् मन्यते। सः बहिरात्मा अस्ति।

(८) राग-परिहार सूत्रम्—अत्र एकादश गाथाः सन्ति। रागद्वेषौ कर्मबीजे स्तः। कर्म कोहात् जायते। तत् जन्ममरणयोः मूलमस्ति। जन्म, मरणं च दुःखस्य मूलम् कथ्यते। अस्मिन् संसारे जन्मनः जरायाः मरणस्य च दुःखैः ग्रस्तः जीवः किमपि सुखं न लभते। अतः मोक्ष एव उपादेयोऽस्ति। सर्वेषां जीवानां देवानां च यत्किमपि कायिकं मानसिकं च दुःखम् अस्ति। सः काम भोगानां सततम् अभिलाषेण उत्पन्नः भवति। वीतरागश्च तद् दुःखस्य अन्तं प्राप्नोति।

(९) धर्म-सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे चत्वारिंशत् गाथाः सन्ति। अत्र धर्म-सम्बन्धिन्याः गाथाः सन्ति। धर्मः उत्कृष्टं मंगलम् अस्ति। अहिंसा संयमः तपश्च तस्य लक्षणानि सन्ति। यस्य मनः सदैव धर्मे रमते तं

देवा अपि नमस्कुर्वन्ति। वस्तुनः स्वभावः धर्मः अस्ति। क्षमादि भावानाम् अपेक्षया सः दशधा अस्ति। रत्नत्रयं (सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक् चरित्रं) जीवानां रक्षणं धर्मः अस्ति। उत्तम-क्षमा, उत्तम मार्दवं, उत्तममार्जनं उत्तमं सत्यं, उत्तमं शोचं उत्तमः संयमः उत्तमं तपश्च उत्तमः त्यागः उत्तमं आकिंचन्यं उत्तमं ब्रह्मचर्यं च दश धर्माणां वर्णनं कृतम् अस्ति।

(१०) संयम सूत्रम्—अत्र अष्टादश-गाथाः सन्ति। अत्रोच्यते यत् संयमेन तपसा च स्वस्मिन् विजयः प्राप्यते। आत्मानं सर्वोपरि मन्यते। आत्मैव कामदुहा धेनुः अस्ति। आत्मैव च नन्दन वनमस्ति। आत्मैव सुखस्य दुःखस्य च कर्ता अस्ति। आत्मैव मित्रं शत्रुश्च अस्ति। आत्म-संयमेन निवृत्तिः संयमेव च प्रवृत्तिः धैर्यवान् एवं धर्मी भविष्यति।

(११) अपरिग्रह-सूत्रम्—अत्र प्रकरणे सप्त गाथाः सन्ति। जीवः परिग्रहकारणात् हिंसां करोति। असत्यं वदति, चौर्यं करोति, मैथुनं सेवते। अत्यधिकं च मूर्च्छां करोति। एवं परिग्रहः पंचानां पापानां मूलम् अस्ति। यः परिग्रहस्य बुद्धिं त्यजति, स एव परिग्रहं त्यक्तुं शक्नोति। यस्य पार्श्वे परिग्रहः नास्ति स एव मुनि पथद्रष्टा अस्ति।

(१२) अहिंसा सूत्रम्—अत्र त्रयोदश गाथाः सन्ति। अत्र कथितम् अस्ति यत् हिंसा त्यक्तव्या। सर्वेषां जीवानां जीवनस्य अधिकारोऽस्ति। प्राणिनां हननं न कुर्यात् न च कारयेत्। सर्वेषां जीवानां दुःखं स्वदुःखं जानीहि एवं विचिन्त्य सर्वेषु दया करणीया। जीव हिंसा त्यक्तव्या। रागादीनामनुत्पत्तिः अहिंसा अस्ति। तेषां च उत्पत्तिः हिंसा अस्ति। यथा मेरु पर्वताद् उच्चतरं आकाशात् विशालं च किमपि नास्ति। तथैव अहिंसासमः कोऽपि धर्मः नास्ति।

(१३) अप्रमाद-सूत्रम्—अत्र दश गाथाः सन्ति। अत्र कथितम् अस्ति यत् प्रमादग्रस्तो भूत्वा व्यर्थं कामनाः न कर्तव्याः। प्रमादः कर्म अप्रमादश्च अकर्म कथ्यते। प्रमादेन मनुष्यः बालः (अज्ञानी) भवति। प्रामादाभावे च मनुष्यः पण्डितः (ज्ञानी) भवति। अप्रमादी न विभेति।

वस्तुनाम् उत्थाने निक्षेपे च मलस्य मूत्रस्य च त्यागे, उपवेशने गमनागमने च दयालुः पुरुषः सदा अप्रमादी भवति, सः निश्चित रूपेण अहिंसकः भवति।

(१४) शिक्षा-सूत्रम्-अस्मिन् प्रकरणे सप्त गाथाः सन्ति। अत्रोच्यते यत् विनयरहितस्य ज्ञानादिगुणाः नष्टाः भवन्ति। इयमेव तस्य विपत्तिः विनयशीलं च ज्ञानादिगुणानां सम्प्राप्तिः भवति। एतयोः द्वयोः जाता एव यथार्थं शिक्षां प्राप्नोति अध्ययनेन जनाय ज्ञानस्य चित्तस्य च एकाग्रता प्राप्यते। सः स्वयमेव धर्मे स्थितः भवति-अन्यांश्च स्थिरयति। अनेकेषां जायते। अष्टभिः कारणैः मनुष्यः शिक्षाशीलः कथ्यते-

(१) हासपरिहासेऽनासक्तिः। (२) सदैव इन्द्रियाणां मनसः च दमनम्। (३) कस्यापि रहस्योद्घाटनस्य अकरणम्। (४) आचारविहीनतायाः अभावः। (५) दोषेषु निष्कलंकता (विशीलराहित्यतम्)। (६) अतिरसलोलुपतायाः अभावः। (७) क्रोधराहित्यम्। (८) सत्यपरतां च।

(१५) आत्मसूत्रम्-अत्र प्रकरणे पंचदश गाथाः सन्ति। अत्रोच्यते यत् आत्मात्रिधा भवति-बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा चेति। तत्र परमात्मा द्विधा-अर्हत्, सिद्धश्चेति। इन्द्रिय समूह स्यात्मा रूपेण स्वीकर्ता बहिरात्मा। आत्म-संकल्पात् भिन्नस्य आत्मनो स्वीकर्ता अन्तरात्मा अस्ति। कर्म कलंकाभ्यां विमुक्तः आत्मा परमात्मा अस्ति।

केवलं ज्ञानेन सर्वपदार्थानां ज्ञात सशरीरी जीवः अर्हद् अस्ति। सर्वोत्तमसुखं (मोक्षं) संप्राप्तः ज्ञानशरीरी जीवः 'सि' इति कथ्यते। शुद्धे आत्मनि वर्णः रसः ग्रन्थः स्पर्शः स्त्री पुरुषं नपुंसकादि प्रतीतिः संस्थानं सहननं च न भवन्ति। आत्मा ज्ञायक अस्ति, यः ज्ञायकः भवति सः न प्रमत्तः न चाप्रमत्तः भवति। यश्च प्रमत्तः अप्रमत्तश्च न भवति सः शुद्धः भवति। आत्मा ज्ञापक रूपेण एवज्ञाता अस्ति। स च शुद्धार्थेन ज्ञापक एव अस्ति। तस्मिन् ज्ञेयकृता अशुद्धता नास्ति।

२.२.१.२ द्वितीय खण्डः—मोक्षमार्गः

मोक्ष-मार्ग-खण्डे अष्टादशानि प्रकरणानि ३९६ गाथाः सन्ति। अस्मिन् मार्गे समागतजनस्य समस्त शंकाः भयमुक्तसंवेदना आकांक्षाः मूर्खताः श्रद्धा-ज्ञान-चरित्रस्य अथवा भक्ति-ज्ञान-कर्मत्रयस्य त्रिवेणीमध्ये निमज्जन्ति। चित्तं प्रशान्तं भवति। गृहे वसन अपि जले कमलमिव अलिप्तो भवति। तस्य ज्ञानम् सूर्य पूर्णप्रखरतया भासते। यावत् जीवनं मोक्षमार्गप्राप्तजनः कल्याणमार्गस्य उपदेशं कुर्वन् विचरणं करोति। यदा आयुः पूर्णा भवति सः सिद्ध-विदेह दशां प्राप्नोति, आनन्द सागरे विलीनो भवति।

(१६) मोक्षमार्ग सूत्रम्—अस्य प्रकरणस्य १६ गाथासु दर्शन-ज्ञान चरित्र-मोक्ष-मार्गस्य प्रतिपादनं कृतं वर्तते। शुभाशुभकर्माणि तथैव जीव बन्धनं कुर्वन्ति यथा स्वर्णस्य भवतु वा लौहस्य निगडद्वयं पुरुषस्य बन्धनम् एव करोति। यः पुण्यं करोति सः पुण्यम् इच्छति संसारम् इच्छति। पुण्यं सुगति कारणम् परन्तु पुण्य क्षये एव निर्वाणप्राप्तिः।

(१७) रत्नत्रयम्—अस्मिन् प्रकरणे एकादशाः (११) गाथाः सन्ति। साधुपुरुषः नित्यदर्शनं ज्ञानार्जनं चरित्ररक्षणं च कुर्यात्। धर्म तत्त्वार्थ विषये श्रद्धा सम्यग्दर्शनं कथ्यते। सम्यग्दर्शनं विना ज्ञानं न भवति, ज्ञानं विना चरित्रं न भवति, चरित्रं विना कर्मक्षय मोक्षो न भवति। मोक्षं विना अनन्त आनन्दनिर्वाणो न भवति। ज्ञान-क्रिया-संयोगेन एव फल प्राप्तिः यथा वने अंधः पंगुश्च मिलित्वा नगरम् आगतौ एक चक्रेण रथो न चलति।

(१८) सम्यग्दर्शन सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे षड्विंशति (२६) गाथाः सन्ति। रत्नत्रये सम्यग्दर्शनम् एवं श्रेष्ठम्। इदमेव मोक्षमहावृक्षस्य मूलम्। सम्यक्त्वरहितजनः कठिन तपः कृत्वापि बोधलाभं न प्राप्नोति। यथा कमलिनीपत्रं सलिलेन न लिप्यते तथैव सत्पुरुषः सम्यक्त्व प्रभावेण विषयैः न लिप्यते।

(१९) सम्यग्ज्ञान सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे सप्तदश (१७) गाथाः सन्ति। साधकः श्रुत्वा एव कल्याणं पापं वा उभयं जानाति। यत् श्रेयस्करं तदैव आचरणीयम्। यथा ससूत्रा सूची कचवने पतिताऽपि विलुप्ता न भवति तथैव शास्त्रज्ञानयुक्त जीवः संसारे आगत्य अपि न नश्यति। यः आत्मानम् अशुचि शरीरात् भिन्नं जानाति सः सर्वं शास्त्रं जानाति।

(२०) सम्यक्-चारित्र सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २६ गाथाः सन्ति। चारित्र समपन्नस्य अल्पज्ञानं पर्याप्तम्। चारित्रविहीनस्य बहु श्रुतज्ञानं व्यर्थम्।

(२१) साधना सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे अष्टाः (८) गाथाः सन्ति। जिनदेवस्य मतानुसारम् आहारसन-निद्रा जयं कृत्वा गुरुप्रसादेन ज्ञानं सम्प्राप्य आत्मज्ञानं करणीयम्। सर्वज्ञान प्रकाशेन अज्ञानमोह परिहारेण रागद्वेषक्षयेण एकान्त सुख मोक्षस्य प्राप्तिः भवति। ये नराः हिताहाराः, मिताहाराः, अल्पाहाराः भवन्ति ते स्वयं चिकित्सकाः भवन्ति, चिकित्सकं न गच्छन्ति।

(२२) द्विविध धर्मसूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे पंच (५) गाथाः सन्ति। जन्म-जरा-मरण-मुक्ति-जिनेन्द्र देवेन लोके मार्गद्वयं निर्देशितं—प्रथमं श्रमणानां, द्वितीयं श्रावकानाम्। श्रावकधर्मे मुख्यं दानं पूजा च, श्रमण धर्मे ध्यानम् अध्ययनं च मुख्यं कथितम्।

(२३) श्रावक धर्मसूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे ३५ गाथाः सन्ति। सप्त व्यसनानि सन्ति—परस्त्री-सहवासः, द्यूतं, मद्यं, मृगया, कटुवचनं, दण्डपरुषत्वं चौरकर्म च। मांसाहारेण दर्पः वर्धते दर्पेण मद्यम् अभिलषति, द्यूतम् अपि रमते। समस्त व्यसनानि भवन्ति। अहिंसा, सत्यम्, अपरिग्रहः, शीलः, कामनाहीनता अणुव्रतानि सन्ति।

(२४) श्रमण-धर्म-सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे अष्टविंशति (२८) गाथाः सन्ति। परमपद-मार्गणे-रत-साधुः पराक्रमे सिंहः, स्वाभिमाने गजः, भद्रतायां वृषभः, सारल्ये मृगः, निरीहतायां पशुः, निस्संगतायां वायुः, तेस्वितायां सूर्यः, गाम्भीर्ये सागरः, निश्चलतायां मेरुः, शीतलतायां

चन्द्रमा, कांतौ मणिः, सहिष्णुतायां पृथ्वी, अनियत-आश्रये सर्पः, निरावलम्बने आकाशः, भवति। मुण्डितेन श्रमणो न भवति, ओंकारेण ब्राह्मणो न भवति, अरण्यवासेन मुनिः न भवति, कुशचीरेण तापसो न भवति। समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति, ज्ञानेन मुनिः भवति, तपसा तापसः भवति। साधुः निर्ममो, निरहंकारः, निःसंगः, त्यक्त गौरवः सर्वभूतेषु स्थावरेषु च समो भवति।

(२५) व्रत सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे विंशति (२०) गाथाः सन्ति। अहिंसा सत्यम्, अस्तेयम्, ब्रह्मचर्यम्, अपरिग्रह इति पंच महाव्रतानि सन्ति। अहिंसा सर्वेषाम् आश्रमाणां हृदयं, सर्वशास्त्राणां रहस्यं, सर्वेषां व्रत गुणानां सारः वर्तते।

(२६) समिति-गुप्ति सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे ३३ गाथाः सन्ति। ईर्या, भाषा, एषणा, आदानम्, निक्षेपणम् उच्चारश्च षट्समितयः मनः-वचन-काय-गुप्ति त्रयं भवन्ति। यात्रा समये जन्तूनां रक्षा प्रयासः ईर्या कथ्यते। सत्यं प्रियं सम्भाषणं भाषा समितिः पुष्पेषु भ्रमर इव विना कष्ट दानेन भिक्षाटनं एषणा समितिः, विवेकपूर्ण-व्यवहार आदाननिक्षेपण समितिः मलत्यागः एकान्ते उपयुक्तस्थाने उच्चार समितिश्च ज्ञायन्ते।

(२७) आवश्यक सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २२ गाथाः सन्ति। यः श्रमणः आवश्यककार्यं न करोति सः चरित्र भ्रष्टी भवति। पर भावस्य त्यागं कृत्वा निर्मल स्वभावः, आत्मध्यातः आत्मवशी कथ्यते। यः सर्वभूतेषु स्थावरेषु समः, तृणकांचन शत्रुमित्र विषयः समभावः सः सामायिकः समाधिस्थः कथ्यते।

(२८) तपः सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे ४५ गाथाः सन्ति। यत्र कषाय निरोधः ब्रह्मचर्यपालनं, जिनपूजनम् अनशनक्रियते तत् तपः कथ्यते। तपो द्विविधं कथितं बाह्यम् आभ्यन्तरम्। अनशनम्, अल्प भोजनं भिक्षाटनं, रसपरित्यागः, काय क्लेशः तपसः षटरूपाणि सन्ति। प्रायश्चित्तं, विनयं दोषस्वीकरणं स्वाध्यायः ध्यानं कायोत्सर्गश्च आभ्यन्तर तपः।

(२९) ध्यान-सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २१ गाथाः सन्ति। साधुजनस्य समस्त धर्ममूलं ध्यानं भवति। मानसिक-एकाग्रता एव ध्यानं कथ्यते। यस्य साधकस्य चित्तं ध्याने निश्चलं भवति तेषां कृते सधनजनसंख्यायुत ग्रामे शून्यारण्ये वा भेदो नास्ति। यः संसार स्वरूपेण सह परिचितः, निःसंगः निर्भयः आशारहितः वैराग्य भावना युतमनः सैव ध्याने सुनिश्चलः सुस्थितो भवति।

(३०) अनुप्रेक्षा-सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २६ गाथाः सन्ति। जन्म मरणेन सह सम्बद्धं यौवनं वृद्धावस्था सह सम्बद्धम् अतः संसारे सर्व क्षणभंगुरं भवति। भावना योग शुद्धात्मा जले नौका समा कथितः। यतः पवनेन नौका तटं गच्छति तथैव शुद्धात्मा संसार पारं करोति। तस्य दुःखानां समाप्तिः भवति।

(३१) लेश्या सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे पंचदशाः (१५) गाथाः सन्ति। धर्मध्यानयुक्त मुनेः शुभ लेश्यात्रयं भवति—पीतं, पद्मं, शुक्लम्। अशुभ लेश्याः त्रिविधं—कृष्णं, नीलं, कपोतं च।

कलहप्रियता कृष्णलेश्या, विषय लोलुपता नील लेश्या, परनिन्दनं कापोत लेश्या विवेक समभावः पीतलेश्या, विनयः पद्मलेश्या समदर्शिता शुक्ल लेश्या कथ्यते।

(३२) आत्मविकास सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २१ गाथाः सन्ति। यैः भावैः जीवाः लक्ष्यन्ते ते 'गुणस्थानं' गुणं वा कथ्यते। चतुर्दशगुणस्थानानि सन्ति—मिथ्यात्वं, सासादनं, मिश्रः, अविरतं, सम्यग्दृष्टिः, देशविरतः प्रमत्तविरलः, अपूर्वकरणम् अनिवृत्ति करणं, सूक्ष्मं साम्परायः उपशान्त मोहः, क्षीणमोहः, सयोगिकेवलीजिनः अयोगिकेवली जिनः इति सन्ति।

(३३) संलेखना सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २१ गाथाः सन्ति।

संलेखना द्विविधा भवति आभ्यान्तरं, बाह्यं च। कषाय-कृश-करणम् आभ्यन्तर संलेखना, शरीर-कृश-करणं च बाह्य संलेखना वर्तते। संलेखना-रत-साधकः मरणकाले सांसारिकभोगं विहाय संसारस्य अशुभपरिणामस्य चिन्तनं कुर्यात्। धनधान्य परिवार-देहादि परद्रव्यात् दुर्गतिः भवति, स्वद्रव्ये स्व-आत्मनि सुगतिः भवतिः अतः पर द्रव्यं विहाय स्वद्रव्ये एव रतिः करणीया।

२.२.१.३ तृतीय-खण्डः-तत्त्व दर्शनम्

अस्मिन् खण्डे प्रकरणत्रयं ६२ गाथाश्च सन्ति। अस्मिन् जीवा-जीवादि तत्त्वानां पापपुण्यादि नव पदार्थानां वर्णनं वर्तते। अस्मिन् जीवात्मा-पुद्गल-परमाणु-षट्द्रव्यानां परिचयः प्रदत्तः। एतेषां द्रव्यानां संयोगेन विभागेन विश्वसृष्टिः स्वाभाविका अनादिः अनन्ता च इति प्रतिपादितम्।

(३४) तत्त्व सूत्रम्-अस्मिन् प्रकरणे ३६ गाथाः सन्ति। सर्वे अज्ञानिनः दुखिनः भवन्ति, दुःखस्य उत्पादकाः भवन्ति, संसारे वारं वारं लुप्यन्ते। पण्डितः पाशजाति पथान् समीक्ष्य समीक्ष्य सत्यान्वेषणं कुर्यात् सर्वेषु भूतेषु मैत्री च कल्पयेत्। शरीरात् भिन्न अरूपी जीवः, सुखदुःख ज्ञान रहित अजीवः, रागः कर्मबन्धः, पुण्यः, पापः, मिथ्यात्वम् आश्रवः, संयम-संवदः, कर्मफल रहितः निर्जरा-मुक्तः, मोक्षः इति नव तत्त्वानि भवन्ति।

(३५) द्रव्य सूत्रम्-अस्मिन् २७ गाथाः सन्ति। लोकः, धर्मः अधर्मः, आकाशः, कालः, पुद्गलः इति षट्द्रव्यात्मकः कथितः। पुद्गल द्रव्यं मूर्तमानं शेषाः अमूर्ताः। एतेषु केवलं जीव द्रव्यम् एव चेतनम्। पृथ्वी-जल-छाया-नेत्र-“रस-गन्ध स्पर्श-शब्द-इन्द्रिय-विषयाः परमाणुश्च षड्विधपुद्गलः कथितः। आदि-मध्य-अंत-हीनम् अप्रदेशं, अग्राह्यम् इन्द्रियैः अविभक्तं द्रव्यं परमाणुः कथितः।

(३६) **सृष्टि सूत्रम्**—अस्मिन् प्रकरणे नव (९) गाथाः सन्ति। अयं संसारः सर्वशः पुद्गल स्कंधैः भरितः वर्तते। एतेषु कतिपय पुद्गलाः कर्मरूपेण परिणमन योग्याः भवन्ति, कतिपयाः अयोग्याः भवन्ति। कर्मरूपे परिणमितयोग्य पुद्गलः जीवस्य रागादि निमित्तं प्राप्तुवा कर्मभावं प्राप्नोति। जीवः यत् सुख दुःख-रूपं कर्म करोति तेन कर्मणा सहैव परभवं गच्छति। कर्मफल भोग रूपं देहान्तरे नव शरीर प्राप्तिः भवति। नव शरीरे नव कर्मबन्धनं भवति। अनेन जीवः निरंतरं विविध-योनि-परिभ्रमणं करोति।

२.२.१.४ चतुर्थ-खण्डः—स्याद्वादः

अस्मिन् खण्डे अष्ट (८) प्रकरणानि सप्तदशाः (१७) गाथाः सन्ति। अस्मिन् अनेकान्तवादस्य वर्णनं कृतम्। प्रमाण-नय-निक्षेप-सप्त भंगी सदृश विषयाणां सरल-संक्षिप्त परिचयः प्रदत्तः। विश्वस्य एकमेव गुरुणा अनेकान्तवादेन विना लोक व्यवहारो न चलितुं शक्नोति। स्यात् पदयुक्तवाक्येव वस्तु गत जटिल स्वरूपस्य विवेचकः समन्वकारी न्यायः स्याद्वादः कथ्यते। वर्तमाने प्रचलित-समन्वयवादः स्याद्वाद पर्यायः वर्तते।

(३७) **अनेकान्त सूत्रम्**—अस्मिन् प्रकरणे १४ गाथाः सन्ति। उत्पाद-स्थिति-विनाश क्रिया त्रयं द्रव्ये न भवति परन्तु द्रव्यस्य पर्यायेषु भवति। जन्मतः मरण पर्यन्तं पुरुषः पुरुष एव कथ्यते परन्तु वाल्यकालः वृद्धावस्था इत्यादि पर्यायाः भूत्वा समाप्ताः भवन्ति। धर्माचरणे प्रवृत्त साधुभिः सह विचरणं कुर्वन् सत्य पालनं करणीयम् सर्वत्र समता समाचरणीया।

(३८) **प्रमाण सूत्रम्**—अस्मिन् प्रकरणे १६ गाथाः सन्ति। अत्र मति-श्रुति अनधि-मन-केवलम् इति पंचविधं ज्ञानं वर्णितम्।

यत् ज्ञानं वस्तु स्वभावं यथार्थरूपं सम्यक् रूपेण जानाति तद् प्रमाणम् कथ्यते। अस्य भेद द्वयं प्रत्यक्षं परोक्षं च। इन्द्रिय-मन-कृत-ज्ञानं लोक व्यवहारे प्रत्यक्षज्ञानं कथ्यते। धूमेन अग्निज्ञानं परोक्षम् अनुमानं कथ्यते।

(३९) नय सूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे २४ गाथाः सन्ति। श्रुत ज्ञानस्य आश्रयेण वस्तुतथ्यस्य अंशं गृहीत ज्ञानिनः विकल्पः 'नय' इति कथ्यते। तद् ज्ञान युक्तीजनः ज्ञानी भवति। नयं विना मनुष्याय स्याद्वादबोधो न भवति। यः एकान्तस्य परिहारं करोति सः नयज्ञ अवश्यमेव भवेत्। यथा धर्मरहितः पुरुषः सुखं वाञ्छति अथवा जलेन विना पिपासां शान्तं कर्तुम् इच्छति तथैव नयं विना द्रव्य स्वरूप निश्चयं कर्तुम् इच्छति मूर्खः।

(४०) स्याद्वाद-सप्तभंगीसूत्रम्—अस्मिन् प्रकरणे ८ गाथाः सन्ति। स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति-अवमन्तव्यम् इति सप्त भंगी स्याद्वादः कथ्यते। वस्तुनः एक धर्मस्य ग्रहणेन प्रतिपक्षी धर्मस्य ग्रहणं स्वाभाविकत्वेन भवति यतः द्वयं धर्मवस्तु स्वभावस्य एव। अतः समस्त-वस्तु धर्मेषु स्याद्वादस्य सप्तभंगी योजना करणीया।

(४१) समन्वय सूत्रम्—स्याद्वादस्य अस्मिन् प्रकरणे १५ गाथाः सन्ति। अस्मिन् संसारे नानाविधजीवाः सन्ति, नानाविध कर्माणि सन्ति, नानाविधलब्धयः सन्ति, अतः कोऽपि स्वधर्मी स्यात् वा विधर्मी स्यात् केनापि सह वादविवादो न करणीयः।

यः पुरुषः केवलं स्वमतस्य प्रशंसां करोति अन्येषां वचनानां निन्दनं करोति सः संसारेण सह सुबद्धताः।

(४२) निक्षेप-सूत्रम्-अस्मिन् प्रकरणे ८ गाथाः सन्ति। युक्ति पूर्वकं नाम-स्थापना-द्रव्य-भाव-चतुष्टये पदार्थस्य स्थापनम् आगमे निक्षेपः कथ्यते। अस्य भेदद्वयम्-कृत्रिमः, अकृत्रिमः, सत्कारः निराकारश्च। अर्हत् प्रतिमा साकार-स्थापना वर्तते। अन्य पदार्थे अर्हत-स्थापना निराकार स्थापना वर्तते।

(४३) समापनम्-अस्मिन् प्रकरणे ५ गाथाः सन्ति। अयं हितोपदेशः अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधारी ज्ञातपुत्र महावीरः विशाला नगर्यां कृतवान्। अत्र कथितम् यः आत्मनं लोकं, आगतम् अनागतम् शाश्वतं-अशाश्वतम् जन्म मरणं, चयनम् उपपादम् आस्रवसंवरं दुःखं निर्जरां च जानाते सैव क्रियावाद कथनं कर्तुं शक्नोति।

(४४) वीर स्तवनम्-अस्मिन् प्रकरणे ७ गाथाः सन्ति। भगवान् महावीरः, सर्वदर्शी, केवलज्ञानी, धैर्यवान् ग्रन्थातीतः विद्वान् अभयः अनायुः तथैव सर्वश्रेष्ठः निर्वाणवादी यथा गजेषु ऐरावतः मृगेषु सिंहः, नदीषु गंगा, पक्षिषु वैनतेय गरुडः।

तृतीयोऽध्यायः
**धम्मपद-समणसुत्तयोः धर्माणां
तुलनात्मकम् अध्ययनम्**

३.१.० धर्मः

भारतीय चिन्तने धर्म-नैतिकतयोः प्रत्ययौ सहभागिनौ प्रोक्तौ। केनापि दृष्टिकोणेन तयोः विभाजनं कर्तुं न शक्यते। यत् नैतिकं शुभकर्मसि स एवधर्मोऽस्ति। यश्च धर्मोऽस्ति तदेव नैतिकम् शुभकर्मास्ति। भारतीय-चिन्तने “धर्म” शब्दः नैतिक-सद्गुणानां कर्तव्याणां चार्थे बहुधा प्रयुक्तोऽस्ति।

“धर्म” शब्दस्य धर्मार्थे नैतिक कर्तव्यार्थे च प्रयोगः सूचयति यत् धर्मो नीतिश्च पृथग्भूते न स्तः एकीभूते स्तः।

भारतीय-परम्परायाः अयं दृढविश्वासोऽस्ति यत् कश्चिदपि धार्मिकः अनैतिको न भवितुमर्हति न चापि कश्चित् अनैतिकाचरणवान् धार्मिको भवितुमर्हति।

पाश्चात्य-परम्परायाम् धर्म-नैतिकते पृथक्-पृथक् रूपेण दृष्टे। पाश्चात्य विचारकाणां दृष्ट्या धर्मस्य नैतिकतायाश्च आधारौ पृथक्-पृथक् स्तः। धर्मस्य सम्बन्धः भावनया सहास्ति नैतिकतायाश्च सम्बन्धः कर्तव्येन सहास्ति। धर्मस्य आधारैः श्रद्धा-विश्वासो स्तः। नैतिकतायाश्च आधारो बौद्धिकता विवेको वा अस्ति। वस्तुतः धर्माचरणादधिकम् किमपि कर्तव्यम् नास्ति। यदि बुभुक्षा कर्तव्यमस्ति। (नीतिशास्त्र की रूप रेखा, पृष्ठ ३८)। यथा बुभुक्षा किमपि कर्तव्यं नास्ति किन्तु केवला सांवेशिकावस्थास्ति तथैव धर्मोऽपि कर्तव्यभावो नास्ति।

तेषां दृष्टिकोणेन धर्मो नैतिकता च पृथक् पृथक् स्तः।

विलियम जेम्स-महानुभागोऽपि धर्म नैतिकतायाः पृथक् कथयति।

सः कथयति—“यदि वयं धर्मस्य कंचित् निश्चितमर्थं स्वीकुर्मः तर्हि अस्माभिः धर्मः भावातिरेकार्थे उत्साह-पूर्णालिङ्गनार्थे च ग्रहीतव्यः। कठोरार्थेषु तथाकथिता नैतिकता केवलं शिरोनामयति मार्गं च ददाति। (नीतिशतक की रूप रेखा, पृष्ठ ३९)।

बौद्धदर्शनोक्ताः शील-समाधि-प्रज्ञाः जैनदर्शनोक्ताः सम्यग् ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक् चारित्राणि च निरपेक्षरूपेण भिन्नानि न मन्यन्ते।

धर्मस्य स्वरूपः अतिव्यापकोऽस्ति। धर्मस्य अनया विशेषतयैव महान्तो विद्वांसः तस्य एतादृशं स्वरूपं निर्धारयितुं समर्था न भवन्ति। यत् सर्वमान्यं स्यात्। इदमेव कारणमस्ति यद् धर्मस्य कापि सर्वमान्या परिभाषा नोपलभ्यते। मुख्या भावना इयमस्ति यद् धर्मेणैव लोको धार्यते संचाल्यते वा। जीवनस्य चतुर्षु पुरुषार्थेषु धर्मस्य प्रथमं स्थानमस्ति। धर्म-मान्यतानुसारम् धर्म सत्ययोः एकतास्ति उभावपि च पर्यायवाचिनौ शब्दौ स्तः। धर्मः सत्यमार्गस्यैव नामास्ति। बौद्ध-साहित्ये धर्मशब्दस्य प्रयोगः बोधि धर्मार्थे ज्ञानधर्मार्थ अपि कृतोऽस्ति। (नीतिशतक की रूपरेखा, पृष्ठ ३९)। ज्ञानमेव बौद्धाः वास्तविक-धर्म मन्यन्ते।

जैन-दर्शने धर्मस्य व्युत्पत्तिः ‘धारणाद् धर्मः’ इत्यस्ति। ‘धृञ् धारणे’ इत्यस्माद् धातोः धारणार्थे धर्मशब्दस्य प्रयोगो भवति। जैन-परम्परायाम् वस्तु-स्वभावः एव धर्मः प्रोक्तः। प्रतिवस्तुनः कथंविधोऽपि स्व-स्वभावो भवति। सः स्वभावः एव तस्य वस्तुनो धर्मः मन्यते। अहिंसा-संयम-तपस्यादयः आत्मनो गुणाः अपि धर्मनाम्ना कथ्यन्ते। (जैन दर्शन, मेहता मोहनलाल, पृष्ठ ८)।

एतदेव न किन्तु समष्टि-रूपेण एवं वक्तुं शक्यते यद् आत्मनः रागद्वेषरहिता परिणतिः धर्मोऽस्ति। (जैन-दर्शन, मनन और मीमांसा, मुनिनाथमल, पृष्ठ २९१)।

एतदतिरिक्तं धर्मस्य अन्येऽप्यर्थाः सन्ति। उदाहरणार्थम् नियमः, विधानम्, परंपरा, व्यवहारः, परिपाटी, प्रचलनम्, आचरणम्, कर्तव्यम्,

अधिकारः, न्यायः, सद्गुणः, नैतिकता, क्रिया, सत्कर्म आदिषु अर्थेष्वपि धर्मशब्दस्य प्रयोगः कृतः। (भगवान् महावीर, पाठक शोभनाथ, पृष्ठ १९)।

अतः धर्मः सः चैतसो भावोऽस्ति येन वयं संसारेण सार्थम् एकतायाः (समन्वयस्य) अनुभवं कुर्मः।

३.१.१. धम्मपदे वर्णितः धर्मः

धम्मपदे धर्म-शब्दस्य प्रयोगः भगवतो बुद्धस्य उपदेशाय कृतः। धम्मपदे सत्य-संयम-दमाहिंसादयो धर्मान्तर्गताः स्वीकृताः—

न तेन थेरो होति येनस्य पलितं सिरो।

परिपक्वो वयो तस्स मोघजिण्णो'ति वुच्चति।।।

— धम्मपद, १९/५

विज्ञाः जनाः धर्मम् (भगवतो बुद्धस्य वचनं) श्रुत्वा तथैव निर्मलाश्च भवन्ति यथा गम्भीरे जलाशये जलं निर्मलं भवति—

यथापि रहदो गम्भीरो विप्सन्नो अनाविलो।

एवं धम्मानी सुत्वान् विप्पीदन्ति पण्डिता।।

— धम्मपद, ६/७

यः स्वस्मै परस्मै वा पुत्र-धन-राज्यादिकं न वाञ्छति, न च धर्मेण स्वोन्नतिमेव वाञ्छति स एव शीलवान्, प्रज्ञावान्, धार्मिकश्चास्ति—

न अस्तहेतु न परस्स हेतु न पुत्तमिच्छेन धनं न रट्ठं।

न इच्छेय्य अधम्मेन समितिद्धमत्तनो स शीलवाप जवा धम्मिको सिया।।

— धम्मपद, ६/९

ये सम्यगुपदिष्टस्य धर्मस्य आचरणम् कुर्वन्ति ते एव दुस्तरस्य मृत्यु-राज्यस्य पारम् यान्ति—

येच खो सम्मदक्खाते धममे धम्मानुवन्तिनो।

तेजना पारमेस्सन्ति मच्चुधेय्यं सदुत्तरं।।

— धम्मपद, ६/११

धर्मरसस्य पानकर्ता प्रसन्नचेतसा ससुखं शेते बुद्धपण्डितोपदिष्टे
धर्मे सदा रमते—

धम्मपीती सुखं सेति विप्पसन्नेन चेतसा।
अरियप्पवेदिते धम्मे सदा रमति पण्डितो॥

— धम्मपद, ६/४

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् नीचकर्म न कुर्यात्, प्रमादी न भवेत्,
आवागमन-चक्रे न पतेत्, उत्तिष्ठेत् धर्ममाचरेच्च। सुचरित-धर्मस्य
आचरण-कर्ता धर्मचारी इहलोके परलोके उभयत्र सुखेन निवसति—

हीनं धम्मं न सेवेय्यं, पमादेन न संवसे।
मिच्छादि ट्ठिं न सेवेय्यं न सिया लोकवड्ढनो॥
उत्तिट्ठे नप्पमज्जेय्यं धम्मं सुचरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिन् लोके परमिह च॥
धम्मं चरे सुचरितं न तं दुच्चरितं चरे।
धम्मचारी सुखं सेति अस्मिन् लोके परमिह च॥

— धम्मपद, १३/१, २, ३

किन्तु येन धर्मस्य उल्लंघनं कृतम्, यः असत्यं वदति, परलोकस्य
उपहासं च करोति सः नरः कथं विधादपि पापान् न भेष्यति—

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्य नत्थि पाप अकारियं॥

— धम्मपद, १३/१०

अतिवाचालो नरो धार्मिको न कथ्यते। स एव नरो वस्तुतो
धार्मिकोऽस्ति यो मितवादी अस्ति यो निजजीवने तं सिद्धान्तं
चरितार्थयति। यो नरः धर्माचरणेन अन्येषां पथ-प्रदर्शनं करोति यो धर्म
रक्षितो मेधावी चास्ति स एव धार्मिकोऽस्ति यः कदापि धर्मस्य अवहेलनां
न करोति—

असाहसेन धम्मेन समेन नमती परे।
धम्मस्स गुतो मेधावी धम्ममट्ठो'ति पवुच्चति॥

न तावता धम्मधरो यावता बहु भासति।
यो च अप्पम्मि सुत्वान धम्मं कायेन पस्सति॥
स वै धम्मधरो होति यो धम्मं नप्पमज्जति॥

— धम्मपद, १९/२, ४

धर्मस्य सर्वत्र प्रशंसा कृता। धर्मदानं सर्वदानेभ्यः श्रेष्ठतममस्ति।
धर्म-माधुर्यम् सर्व-माधुर्येभ्यः श्रेष्ठतममस्ति। धर्मानन्दः सर्वानन्देभ्यः
श्रेष्ठतममस्ति—

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति सब्बं वरसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बं रतिं धम्म रसो जिनाति तण्हक्खयो सम्मदुक्खं जिनाति॥

— धम्मपद, २४/२१

३.१.२ समण सुत्ते वर्णितो धर्मः

समण सुत्ते महावीर स्वामी धर्मस्य वर्णनं कुर्वन् प्राह यत् धर्मः
उत्कृष्टं मंगलमस्ति। अहिंसा, संयमः, तपश्च तस्य लक्षणानि सन्ति।
यस्य मनः सदा धर्मरतो भवति तं देवा अपि नमस्कुर्वन्ति—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसासंजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मो सया मणो॥

— समणसुत्तं, १/९/१

वस्तु-स्वभावो धर्मः कथ्यते। क्षमादिभावापेक्षया सः दशविधोऽस्ति
सम्यग्-दर्शनम् सम्यग्-ज्ञानं, सम्यक्-चारित्र्यम् एतत् रत्नत्रयम् जीव-रक्षा
च धर्मोऽस्ति—

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥

— समणसुत्तं, १/९/२

दश धर्माः एते सन्ति—(१) उत्तमाक्षमा, (२) उत्तमं मार्दवम्,
(३) उत्तमम् आर्जवम्, (४) उत्तमं सत्यम्, (५) उत्तमम् शौचम्, (६)
उत्तमः संयमः, (७) उत्तमं तपः, (८) उत्तमः त्यागः, (९) उत्तमम्
आकिंचन्यम्, (१०) उत्तमं ब्रह्मचर्यम्—

उत्तमखममछवज्जव-सच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं, बम्ह इदि दसविहो धम्मो॥

—समणसुत्तं, १/९/२

क्षमाधर्मः—यो देव-मनुष्य-तिर्यग्भिः (पशुभिः) घोरोपसर्गेष्वपि कृतेषु क्रोध-सप्तो न भवति सः निर्मल-क्षमाधर्मवानस्ति। सर्व प्राणिभ्यो मैत्री-भावना, जीवेभ्यः क्षमादानम्, जीवेभ्यः क्षमायाचनम् अवैर-भावना च क्षमाधर्मः कथ्यते—

कोहेण जोण तप्पदि, सुर-णर-तिरिएहि कीरमाणेवि।
उवसग्गे वि रउछे, तस्स रमा णिम्मला होदि॥

—समणसुत्तं, १/९/४

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवना खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि॥

—समणसुत्तं, १/९/५

मार्दवधर्मः—यः श्रमणः कुल-रूप-जाति-ज्ञान-तपः-श्रुत-शीलानाम् स्वल्पमपि गर्वं न करोति सः मार्दव धर्मवान् भवति।

कुलस्वजातिबुद्धिसु, तवसुदसी लेसु गारवं किंचि।
जो णवि कुव्वदि समणो, मछवधम्मं हवे तस्स॥

—समणसुत्तं, १/९/७

यो जनाः परापमानदोषं सावधानतया परिहरति सः एव यथार्थरूपेण मानयोग्यः अस्ति। गुणशून्याभिमानवान् मानयोग्यो न भवति—

जो अवमाणकरणं, दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो।
सो णाम होदि माणी, ण दु गुणचत्तेण माणेण॥

—समणसुत्तं, १/९/८

आर्जवधर्मः—योजनः कुटिल-विचारं न करोति, कुटिल-कार्यं न करोति, कुटिल-वचनं न वदति, स्वदोषांश्च नाच्छादयति सः आर्जवधर्मवान् भवति—

जो चित्ते ण वक्कं, ण कुणदि वक्कं ण जपदे कं।
ण य गोवदि, णियदोसं, अज्जव-धम्मो हवे तस्स॥

—समणसुत्तं, १/८/१०

सत्यधर्मः—यो भिक्षुः पर-सन्तापक-वचनानि परित्यज्य
स्वपर-हितकारि वचनानि वदति सः सत्यधर्मवान् भवति।

सत्यवादी नरः मातृवत् विश्वसनीयः, जनतायां गुरुवत् पूजनीयः,
सर्वेषां स्वजनवत् प्रियश्च भवति—

परसंतावयकारण वयणं, मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥

—समणसुत्तं, १/९/११

विस्ससणिज्जो माया व, होर पुज्जो गुरुव्व लोअस्स।
सयणु व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस्स होइ पियो॥

—समणसुत्तं, १/९/१४

शौचः धर्मः—यो नरः समता-सन्तोष-जलेन तीव्र-लोभ रूपिणम्
मल-समूहम् प्रक्षालयति यस्मिंश्च भोजनलिप्सा न भवति सः
विमल-शौचधर्मवान् भवति—

समसंतोसजलेणं, जो धोवदि तिव्व-लोहमल-पुजं।
भीयण-गिद्धि-विहीणो, तस्स स उच्चं हवे विमलं॥

—समणसुत्तं, १/९/१९

सत्ये तपः संयमादीनां शेषाणां समस्त गुणानां वासो भवति यथा
समुद्रः मत्स्यानां उत्पत्तिस्थानमस्ति तथा सत्यम् समस्त-गुणानां
उत्पत्तिस्थानम् अस्ति—

सच्चम्मि वसदि त्वो,
सच्चम्मि संजमो तह वसे सेसा विगुणा।
सच्चं णिबंध्यं हि य, गुणायनुदधी व मच्छाणं॥

—समणसुत्तं, १/९/१५

संयमधर्मः—व्रतधारणम्, समिति-पालनम्, कषाय-विग्रहः, मनो-वाक्-काय-प्रवृत्तिरूप-दण्डानां त्यागः, पंचेन्द्रिय-तपः एते सर्वे संयमधर्माः कथ्यन्ते—

वम-समिदि-कसायाणं, दंडाणं तह इंदियाण पंचणहं।

धारण-पालण-णिग्गह-चाय-जओ संजमो भणिओ॥

—समणसुत्तं, १/९/२०

तपोधर्मः—यः इन्द्रिय-विषयाणां कषायाणां च विग्रहं कृत्वा ध्यान-स्वाध्यायाभ्याम् आत्मानं भावयति सः तपो धर्मवान् भवति—

विसयकसाय-विणिग्गहभावं, काऊण ज्ञाणसज्झाए।

जो भावइ अप्पाणं, तस्सतवं होदि णियमेषा॥

—समणसुत्तं, १/९/२१

त्यागः धर्मः—सर्वा द्रव्य-भवान् मोहान् परित्यज्य यः संसार-देह-भोगान् प्रति वैराग्यरूपैः त्रिभिः निर्वेदैः स्वात्मानं भावयति सः त्यागधर्मी भवति—

णिव्वेदतियं भावई, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।

जो तस्स हवे चागो, इदि भणिदं जिणवरिदेहिं॥

—समणसुत्तं, १/९/२२

स एव त्यागी कथ्यते यः कान्ते प्रिये च भोजने उपलब्धे अपि सति ततो विमुखो भवति स्वाधीनतया भोगान् त्यजति च—

जे य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठकुव्वइ।

साणे चयइ भोए, से हु चाई ति वुच्चई॥

—समणसुत्तं, १/९/२३

अकिंचन्यधर्मः—योमुनिः सर्वविध-परिग्रहाणां त्यागं कृत्वा निःसंगो भवति। स्व-सुखद-दुःखद-भावानां विमूहं कृत्वा निर्द्वन्द्वो विचरति सः आकिंचन्य-धर्मवान् भवति—

हो ऊण य णिस्संगो, णिमभावं णिग्गहितुं सुहदुहदं।
णिछंदेण दु वट्टादि, अणयारो तस्साऽऽकिचण्णं॥

—समणसुत्तं, १/९/२४

ब्रह्मचर्यं धर्मः—जीवः एव ब्रह्म अस्ति। देहासक्ति-मुक्त-मुनेः
ब्रह्मणे (आत्मने) या चर्या भवति स एव ब्रह्मचर्य-धर्मोऽस्ति—

जीवो बंध जीवम्मि, चेव चरिया हविज्ज जाजदिणो।
तं जाण बंधचेरं, विमुक्कपरदेहातित्तिस्स॥

—समणसुत्तं, १/९/३०

स्त्रीणां सर्वाङ्गानि पश्यन्नपि यो वासना युक्तो न भवति (विकारं
न प्राप्नोति) स एव वस्तुतः ब्रह्मचर्य-धारकः अस्ति। यथा लाक्षाम्यो
घटः अग्निना तप्तः सन् शीघ्रं विनश्यति तथैव स्त्रीणां सहवासेन मुनिः
नश्यति—

सव्वंगं पेच्छंतो, इत्थीणं तासु मुयदि दुबभावं।
सो बम्हचेरभावं, सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि॥
जउकुंभे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते ना समुदयाइ।
एवित्थियाहि अणगारा, संवासेण नासमुवयति॥

—समणसुत्तं, १/९/३१, ३२

धर्मस्य उपमा व्यापारेण सह कृता। यथा त्रयो वणिजः मूलधनम्
गृहीत्वा व्यापारं कर्तुं गृहात् प्रस्थिताः तेषु एकः लाभम् अर्जयति, एकः
केवलं मूलधनमात्रमेव गृहीत्वा गृहं परावर्तते, एकश्च मूलधनमपि
विनाश्य गृहमायाति। एवमेव धर्मविषयेऽपि कथितमस्ति—

जहा यत्तिण्णि वणिया, मूलं धेतूण निग्गया।
एकोऽत्थ लहई लाहं, एको मूलेण आगओ॥
एको मूलं पि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥

—समणसुत्तं, १/९/३८, ३९

आत्मा एव यथास्थितम् (निज-स्वरूप-स्थितम्) आत्मानं विजानाति। अतएव स्वभावरूपी धर्मोऽपि आत्मसाक्षिको भवति। अस्य धर्मस्य पालनम् आत्मा तथैव करोति यथा सः स्वात्मेन सुखकरः स्यात्—

अप्पा जाणइ अप्पा, जहद्विओ अप्पसक्खिओ धम्मो।

अप्पा, करेइं तं तह, जह अप्पसुहावओ होइ॥

—समणसुत्तं, १/९/४०

३.१.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

उभयोः ग्रन्थयोः तुलनात्मके अध्ययने कृते सति ज्ञायेत यत् धर्मं विना मानव-जीवनस्य किमपि मूल्यम् नास्ति। प्राण-रहित-शरीर-वत् तस्य जीवनस्य मूल्यम् नास्ति यस्मिन् धर्मो नैतिकता वा न भवेत्। यदि जीवने धर्मस्य प्रकाशो न स्यात् तर्हि सः अन्धो भवेत्। एतादृशं जीवनं स्वकृते परकृते चापि भार-स्वरूपम् भवति। मनुष्य-स्वभावात् पशुताभावस्य निष्कासनस्य श्रेयः धर्मः एव लभते। धर्मः मनुष्यस्य दैवी वृत्तिरस्ति। इयं वृत्तिरेव तस्मिन् दया-दान-सन्तोष-करुणानुकम्पा-क्षमा हिंसादीन् विविध-गुणान् उत्पादयति। (बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ ११०)।

उभयोः अपि ग्रन्थयोः सत्यता वर्णिता। परेषां सन्ताप-दाय-कानि वचनानि परित्यज्य हितकारि-वचनानां भाषणम् प्रोक्तम्। यथा—

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।

वित्तिण्यापरलोकस्स नत्थि पापं अकारियं॥

—धम्मपद, १३/१०

परसंतावयकारण-वयणं, मोत्तूण सपरहिदवयणं।

जो वददि भिक्खु तुरियो, तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥

—समणसुत्तं, १/९/१२

एवमेव उभयोः ग्रन्थयोः त्यागस्य अपि वर्णनं कृतम्।

नीचकर्म न कुर्यात्, प्रमादी न भवेत्, आवागमन-चक्रे न पतेत्।
सम्यक्तया धर्माचरणं कुर्यात्-एवं विधा उपदेशाः भगवता बुद्धेन प्रदत्ताः।

धर्म-रस-पानं कृत्वा जनः प्रसन्न चेतसा ससुखं शेते। धर्मात्
मनुष्ये सदाचरणभावना उत्पन्ना भवति।

३.२.० साधना-मार्गः

बौद्धधर्मस्य चतुर्थस्य आर्यसत्यस्य दुःख-निरोध-गामिनी-प्रतिपदायाः
अपरं नाम आर्याष्टाङ्गिक-मार्गोऽस्ति। अयमेव बौद्धधर्मस्य
आचार-संहितायाः चरमं साधनमस्ति। (बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ
१३२)

प्रतिजनः स्वदुःख-विनाश-पूर्वकम् निर्वाण-प्राप्तये कंचिदपि
मार्गम् अवलम्बते। भगवान् शाश्वतवादस्य उच्छेद-वादस्य अन्तं विधाय
मध्यम-मार्गस्य उपदेशः कृतः। अयमेव आर्याष्टाङ्गिक-मार्गः कथ्यते।
निर्मल-ज्ञान-प्राप्तेः अयमेव मार्गोऽस्ति अन्यः कोऽपि मार्गो नास्ति।

एतन्मार्गावलम्बनेन दुःखनाशो भवति अतएव अयं मार्गः सर्वमार्गेषु
श्रेष्ठतमो मन्यते।

जैनधर्मे मोक्षस्य चत्वारि साधनानि वर्णितानि, तानि च-(१)
ज्ञानम्, (२) दर्शनम्, (३) चारित्र्यम्, (४) तपः एतानि सन्ति। एतानि
एव मोक्षमार्गस्य साधनानि सन्ति। (बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १३४)

३.२.१ धम्मपदे आर्याष्टाङ्गिक-मार्गः

मोक्षस्य साधन-मार्ग-रूपेण आर्याष्टाङ्गिक-मार्गः श्रेष्ठः सम्मतः।
चत्वारि आर्यसत्यानि श्रेष्ठानि सन्ति। धर्मेषु वैराग्यं श्रेष्ठतममस्ति। मनुष्येषु
(द्विपदेषु) चक्षुष्मान् ज्ञाननेत्र-धारी बुद्धः श्रेष्ठतमोऽस्ति। (धम्मपद,
२०/१)

दर्शनस्य (ज्ञानस्य) विशुद्धये अयमेव मार्गोऽस्ति अपरो मार्गो
नास्ति। अयमेव मार्गः अनुसरणीयः। अयमेव मार्गो मार-मूर्च्छकोऽस्ति।

अस्य मार्गस्य अवलम्बनेनैव दुःखानां विनाशो भवति। (धम्मपद, २०/२, ३)

आर्याष्टाङ्गिक-मार्गे एतानि अष्टाङ्गानि सन्ति—

(१) सम्यग्-दृष्टिः—दृष्टिशब्दस्य अर्थः ज्ञानम् अस्ति। धम्मपदे प्रोक्तम् यत् ये जनाः दोषयुक्तं कार्यम् दोषयुक्तं विज्ञाय दोषरहितम् कार्यं च दोषरहितं विज्ञाय यथार्थं रूपेण धारयन्ति ते जनाः सम्यग्-दृष्टिं प्राप्य सद्गतिं गच्छन्ति। यथा—

वज्ज च वज्जतो जत्वा अवज्ज च अवज्जतो।

सम्मादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुगतिं॥

—धम्मपद, २२/१४

यः शीलेन, दर्शनेन (सम्यग्-दृष्ट्या) च सम्पन्नः, धर्मे स्थितः, सत्यवादी, स्व-कर्तव्य-परायणश्चास्ति तं पुरुषं देवाः प्रियम् वदन्ति तस्मैस्निह्यन्ति च। यथा—

सीलदस्सनसम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं।

अत्तनो कम्बुकब्बानं तं जनो कुरुते पियं॥

—धम्मपद, १६/९

(२) सम्यक्-संकल्पः—संकल्पस्य अर्थः दृढनिश्चयोऽस्ति। तथा इच्छा, उद्देश्यम्, विचारः, मनोरथः इत्यादयोऽपि संकल्पशब्दस्य अर्थाः सन्ति।

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् ये असारम् सारम्, सारं च असारम् मन्यन्ते ते मिथ्या-संकल्प-वन्तो जनाः सादम् न प्राप्नुवन्ति। परन्तु ये असारम् असारम् सारं च सारम् इति जानन्ति, ते सम्यक्-संकल्पयुक्तः सारं प्राप्नुवन्ति। यथा—

असारे सारमतिनो सारे चासारदस्मिनो।

ते सारं णाधिगच्छन्ति मिच्छासङ्कप्पगोचराः॥

सारं च सारतो जत्वा असारं च असारतो।
ते सारं अधिगच्छन्ति सम्मासङ्गप्पगोचरा॥

— धम्मपद, १/११, १२

(३) सम्यक् वाक्—सम्यक् भाषणं, मिथ्यावचनस्य विवादस्य च त्यागः सम्यक् वचनम् इति कथ्यते। भगवता बुद्धेन सम्यक्-वचनस्य कथनं निषेधात्मकशैल्यां कृतम्—यथा मिथ्यावचनात् विरतिः सम्यक्वचनम् वर्तते। यथा—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति॥

— धम्मपद, ८/२

(४) सम्यक् कर्म—धम्मपदे कथितम् असत्यवादी नरकं गच्छति। यः किमपि कार्यं कृत्वा, न कृतम् इति कथयति सः असत्यवादी। अतः मनुष्यः असत्-कर्माणि परित्यज्य पंचशीलस्य आचरणं कुर्यात्। यथा—

यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।
लोके अदियति परदारं च गच्छन्ति॥

— धम्मपद, १८/१२

(५) सम्यक् आजीवः—सम्यक्-आजीविका। यथा भ्रमरः विविधपुष्पेषु रस-चोषणं कृत्वा स्वजीविकां चालयति तथैव भिक्षुकः ग्रामेषु विचरणं कुर्वन् विना भारं कस्मिन्नपि। स्वजातिकोपार्जनं कुर्यात्। यथा—

यथापि भमरो पुष्पं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामेमुनीं चरे॥

— धम्मपद, ४/६

(६) सम्यक् व्यायामः—इन्द्रियेषु संयमः, कुभावना-निरोधः, सुभावना उत्पाद प्रयत्नः, सद्भावनानां संरक्षणं प्रयासश्च सम्यक् व्यायामाः सन्ति। यथा—

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।

ये चित्तं सज्जमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना॥

— धम्मपद, ३/५

(७) सम्यक् स्मृतिः—स्मृति तात्पर्यं जागरूकता वर्तते। ये श्मशान भूमौ मृतशरीरस्य स्मरणं कृत्वा स्वशरीरे आसक्तिं न कुर्वन्ति, शरीरस्य अन्तिमदशायाः स्मरणं कुर्वन्ति ते सदैव स्व कर्तव्यपालनं कुर्वन्ति। तेषां स्मृतियुक्तानां बुद्धिमतां आश्रवः अर्थात् चित्तमलं समाप्तं भवति। यथा—

येस च सुसमारहा निच्चं कायगतासति।

अकिच्चन्ते न सेवन्ति किचचे सातच्चकारिनो।

सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा॥

— धम्मपद, २१/४

(८) सम्यक् समाधिः—समाधिना चित्तम् एकाग्रं क्रियते। चित्तस्य दमनं क्रियते। धम्मपदे कथितं चित्तस्य दमनं श्रेयस्करम्, सुखावहं च। यथा—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकाम-निपातिनो।

चित्तस्य दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं॥

— धम्मपद, ३/३

३.२.२. समण-सुत्ते साधनामार्गः

मोक्षसाधनमार्गरूपे मोक्षस्य चत्वारि साधनानि सन्ति—(१) ज्ञानम्, (२) दर्शनम्, (३) चारित्र्यं, (४) तपः। ज्ञानेन तत्त्वं ज्ञायते। दर्शनेन तत्त्वाय श्रद्धा भवति। चारित्र्येण भावीकर्मणाम् निरोधः भवति, तपसा च पूर्वसंचित कर्माणि क्षीणानि भवन्ति। यथा—

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सच्छहे।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई॥

— समणसुत्तं, २/१७/२

(१) सम्यक् ज्ञानम् (सत्यज्ञानम्)—येन तत्त्वस्य ज्ञानं भवति, चित्तस्य निरोधः भवति, आत्मा च विशुद्धा भवति तत् जिनशासने ज्ञानं कथितम्। यथा—

जेण तच्चं बिबुज्जेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।

जेण अत्ता विसुज्जेज्ज, तं णाणं जिणसासणे॥

—समणसुत्तं, २/१९/८

यः एकं जानाति सः सर्वं जानाति, यः सर्वं जानाति सः एकं जानाति। ज्ञाने लीनतया परम सुखस्य प्राप्तिः भवति। यथा—

जे एगं जाणइ, जे सव्वं जाणइ।

जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥

—समणसुत्तं, २/१९/१४

(२) सम्यक्-दर्शनम् (तत्त्वश्रद्धा)—“सत्यस्य दर्शनम्” एव सम्यक् दर्शनम्। रत्नत्रये सम्यक्दर्शनम् एव श्रेष्ठम् अस्ति। इदमेव मोक्षरूपी महावृक्षस्य मूलम्। इदं निश्चयस्य व्यवहारस्य च रूपे द्विविधं भवति। यथा—

सम्मत्तरयणसारं, मोक्खमहारूक्खमूलमिदि भणियं।

तं जाणिज्जइ णिच्छय-ववहारसरूवदोभेयं॥

—समणसुत्तं, २/१८/१

व्यवहार नयात् जीवादि तत्त्वानां श्रद्धानं जिनदेवेन सम्यक्त्वम् इति कथितम्। निश्चयात् आत्मा एव सम्यक्दर्शनम्। यथा—

जीवादि सद्दहणं, सम्मतं जिणवरेहिं पण्णत्तं।

ववहारा णिच्छयदो, अप्पा णं हवइ सम्मतं॥

—समणसुत्तं, २/१८/२

यः सम्यक् दर्शनेन शुद्धः सैव निर्वाणं प्राप्नोति। सम्यक्दर्शन रहित पुरुषः इच्छित लाभं न प्राप्नोति। यथा—

जं मोणं तं सम्मं, जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्मतहेऊ वि॥

—समणसुत्तं, २/१८/३

(३) सम्यक्-चरित्रम् (सदाचारः)—आत्मनः आत्मनि आत्मार्थं तन्मयता एव सम्यक् चारित्रम् तथा चारित्र-शील-योगी निर्वाणं प्राप्नोति। यथा—

णिच्छयणयस्स एवं, अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो, जोई सो लहइ णिव्वाणं॥

—समणसुत्तं, २/२०/७

चारित्रशून्यपुरुषस्य विपुलशास्त्राध्ययनम् व्यर्थमेव यथा अंधसम्मुखं सहस्त्रदीपकज्योतिः व्यर्था। यथा—

सुबहुम् पि सुममहीयं किं काहिइ चरणविव्वाणीणस्स।
अंधस्स जह पलिता, दीवसयसहस्सकोडी वि॥

—समणसुत्तं, २/२०/५

चारित्रसम्पन्नस्य अल्पतम् ज्ञानम् अपि पर्याप्तम्। चारित्रहीनस्य बहुश्रुतज्ञानम् निष्फलम्। यथा—

योवम्मिसिक्खिंदे जिणइ, बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो।
जो पुण चरित्तहीणो, किं तस्स सुदेण बहुएण॥

—समणसुत्तं, २/२०/६

वास्तविकतायां चारित्रम् एव धर्मः। अयं धर्मः शमरूपः कथितः। मोह-क्षोभ-रहितस्य आत्मनः निर्मलपरिणामः शमः वा समतारूपः। यथा—

चारित्रं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिछिट्ठे।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो॥

—समणसुत्तं, २/२०/१३

(४) तपः—यत्र कषाय निरोधः, ब्रह्मचर्यं पालनं, जिनपूजनम् अनशनम् च क्रियते तत् सर्वं तपः कथ्यते। यथा—

जत्थ कसायणिरोहो, बंभं जिणपूयणं अणसणं च।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयमि॥

—समणसुत्तं, २/२८/१

३.२.३ तुलनात्मक अध्ययनम्

उभयोः ग्रन्थयोः अध्ययनेन ज्ञायते, यथा कार्यं सफलतायाः कृते इच्छा ज्ञानं प्रयत्नम् इति संयोग त्रयम् आवश्यकम् तथैव संसारस्य दुःखात् मुक्तिं प्राप्तुं विश्वास ज्ञान-सदाचार इति त्रयस्य संयोगस्य आवश्यकता भवति। इदं समणसुते सम्यग्ज्ञानम्, सम्यग्दर्शनम् सम्यग्चारित्रं इति त्रय नाम्ना ज्ञायते। धम्मपदे इदमेव शील-समाधि-प्रज्ञानाम्नः ज्ञायते।

धम्मपदे त्रिविधसाधनामार्गरूपे शील-समाधि-प्रज्ञा-विधानं कृतं वर्तते। कतिपयस्थलेषु शील-समाधि-प्रज्ञा स्थाने वीर्य-श्रद्धा-प्रज्ञाविधानम् अपि वर्तते (धम्मपद, ४/१४)। वस्तुतः शीलः वीर्यस्य श्रद्धा च समाधिप्रतीकरूपं वर्तते। श्रद्धा समाधिश्च द्वयं समानम् यतः द्वये चित्तविकल्पः न भवति। अनेन आधारेण समाधि गुणस्य अथवा श्रद्धायाः तुलना सम्यक् दर्शनेन प्रज्ञायाश्च तुलना सम्यक् ज्ञानेन क्रियते।

धम्मपदे आर्ष-अष्टांगमार्गस्य सम्यक्-वाक् सम्यक्कर्मान्तः सम्यक्-आजीवश्च अंतर्भावे शीलः, सम्यक् व्यायामः, सम्यक् स्मृतिः सम्यक्समाधिः अंतर्भावे चित्तं श्रद्धा वा समाधिः भवति। एवमेव सम्यक् संकल्पः सम्यक्दृष्टिः अन्तर्भावे प्रज्ञा कथ्यते (बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १५१, १५२)।

यत्र समणसुते सम्यक्दर्शनं सम्यक् ज्ञानं च धम्मपदस्य क्रमशः समाधिस्कंधे प्रज्ञास्कंधे च आगच्छतः, तत्रैव धम्मपदस्य शीलस्कंधः समणसुत्तस्य सम्यक् चरित्रे सरलतया अंतर्भूतं भवति। अनात्मभावना चिन्तने ग्रन्थद्वयं परस्परं सन्निकटम्। धम्मपदे अनात्मसिद्धकरणाय

आधारः अनित्यता दुःखमयता च वर्तते। समणसुत्ते अन्यत्व भावनायाः आधारः तस्याः सांयोगिका उपलब्धिः स्वीकृता। ग्रन्थद्वये ज्ञानस्य समस्त-विषयेषु 'स्व'तत्त्वस्य अथवा आत्मनः अभावः दृश्यते। ममत्व बुद्धि निषेधस्य चर्चा ग्रन्थद्वये वर्तते (जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ ८०)। बुद्धेन स्वज्ञान-प्रयासं व्यर्थम् इति कथितम्। समणसुत्ते कथितम् यः एकं जानाति सः सर्वं जानाति (समणसुत्तं, २/१९/१४)।

अनात्मनः परित्यागः "स्वस्य वा आत्मनः ग्रहणम् इति द्वयम् स्वीकृतम् ग्रन्थद्वये।

सम्यक् दर्शनं दृष्टिपरके अर्थे वर्तते। इदं समानरूपेण ग्रन्थद्वये स्वीकृतं वर्तते।

ग्रन्थ द्वये नाम पद्धत्यां वर्गीकरण प्रणाल्यां च अन्तरं वर्तते परन्तु द्वयोः आंतरिक स्वरूपं समानं वर्तते। सम्यक् आचरणाय याः अपेक्षाः धम्मपदे कृताः ताः एव समणसुत्ते अपि स्वीकृताः। एवं ग्रन्थ द्वयं परस्परं पर्याप्तं निकटं यतः तत्र समानता दृश्यते।

३.३.० गुप्तयः, समितयः/शुचयः

समणसुत्ते जैन परम्परायां च यः भावः मिलति सः धम्मपदे विभिन्न शुद्धीनाम् अनुसारं वर्तते। धम्मपदे गुप्तसमिति पारिभाषिक शब्दाभाव सत्वेऽपि विभिन्न प्रसंगेषु तस्य भावप्राप्तिः भवति। समणसुत्ते 'गुप्ति' 'गोपेन' शब्दतः निर्मितः, यस्यार्थः दूरीकरणम्, गुप्ति शब्दस्य द्वितीयोऽर्थः रक्षाकवचोऽपि वर्तते।

समणसुत्ते 'समिति' शब्दस्य व्याख्या सम्यक् प्रवृत्तिरूपे कृता वर्तते।

धम्मपदबौद्धपरम्परायां गुप्तेः विधानं मन, वचन, शरीरतः वर्तते। बुद्धः श्रवणसाधकाय मन, वचनशरीरस्य अप्रशस्त प्रवृत्तीन् निरुद्धीकरणाय निर्देशः दत्तवान् (उत्तरध्यानसूत्र, ३/१२०)

समिति शब्दस्य प्रयोगोऽपि धम्मपदे अस्मिन्नर्थे नैव जातः। तथापि समणसुत्तवत् आवागमनम्, भाषा, भिक्षा एवं वस्तुनः आदानप्रदानं, मल-मूत्र विसर्जनम् इत्यादि विषये विचारो विहितः।

३.३.१ समणसुत्ते गुप्तयः

(१) मनोगुप्तिः—मन अप्रशस्त एवं अशुभ विचारतः दूरीकरणं मनोगुप्तिः वर्तते। यातनासम्पन्नः यति संरभः समारम्भः आरम्भे प्रवृत्तमानं मनसः गोपनं कुर्यात्। यथा—

सरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य।

मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

—समणसुत्त, २/२६/२९

(२) वचनगुप्तिः—अशुभवृत्तेः असत्यवचनस्य च परिहारः एव वचनगुप्तिः वर्तते। आरम्भे प्रवर्तमानवचनस्य गोपनं कुर्यात्। यथा—

सरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य।

मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

—समणसुत्त, २/२६/३०

(३) कायगुप्तिः—शारीरिकक्रियातः निवृत्तिः कायगुप्तिः वर्तते। यतनाचारपूर्वकं गमनेननिवसेन शयनेन वदनेन च सज्जनं कर्मस्य बन्धने न भवति।

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।

जयं भुंजंतो भासंतो, पावं कम्भं न बंधई॥

—समणसुत्त, २/२६/१२

येन प्रकारेण कृषि क्षेत्रस्य रक्षोपकरणानि, नगरस्य रक्षा प्राकाराः कुर्वन्ति तथैव पापनिरोधक गुप्तयः साधोः संयमस्य रक्षां कुर्वन्ति।

३. सरंभसमारंभे, आरंभम्मि तहेव य।

कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई।

—समणसुत्त, २/२६/३१

खेत्तस्स वई णमरस्स, खाइया अहव होइ पायासे।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स॥

—समणसुत्तं, २/६/३२

३.३.२ समणसुत्ते समितयः

समिति शब्दस्य व्याख्या सम्यक् प्रवृत्तेः रूपे कृता वर्तते। गुप्ति समितिः एकी भूत्वा अष्ट प्रवचनमातरः सन्ति। यथा—सावधानमाता पुत्रस्य रक्षणं करोति। तथैव सावधानतयापलिताः एताः अष्टमातरः मुनेः सम्यक् ज्ञानस्य, सम्यक्दर्शनस्य, सम्यक् चारित्र्यस्य च रक्षां कुर्वन्ति। यथा—

एदाओ अट्ठ पवयणमादाओ णाणदंसणचरितं।
रक्खति सदा मुणिणो, मादा पुत्तं व पयदाओ॥

—समणसुत्तं, २/२६/२

पंचसमितयः सन्ति—

(१) ईर्या समितिः—कार्यवशात् पासुकमार्गेण (यस्मिन्मार्गे पूर्वतः आवागमनं आरम्भः) चतुर्हस्त दूरे भूमिं पश्यतः जीवानां विरोधनां निवारयतः गमनं ईर्या समितिः वर्तते। यथा—

फासुयमग्गेण दिवा, जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण।
जंतुण परिहरते—णिरियासमिदी हवे गमणं॥

—समणसुत्तं, २/६/१३

इन्द्रियविषयं तथा स्वाध्यापकां त्यक्त्वा मात्र गमनक्रियायां तन्मयो भवेत्। गमनमेव प्रमुखरूपेण महत्त्वं प्रदाय उपयोगपूर्वकं (जागृतिपूर्वकं) गमनीयम्। यथा—

इन्द्रियत्थे विवज्जिता, सज्झायं चेव पंचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते इरियं रिए॥

—समणसुत्तं, २/२६/१४

गमन समये यस्मिन् मार्गे विविधाः जीवाः भोजनार्थम् एकत्रिताः,
तस्मिन् मार्गे गमनं न करणीयम् येन ते जीवाः भयग्रस्ताः न स्युः। यथा—

त हे वुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया।

तं उज्जुअं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे॥

—समणसुत्तं, २/२६/१५

(२) भाषा समितिः—विवेकपूर्ण भाषायाः प्रयोगकरणं भाषासमितिः
वर्तते। पैशुन्यहास्य कटुवचन परनिन्दा आत्मप्रशंसाविकथायाः (स्त्रीराज्यादि
रसवर्द्धकविकार-वर्धककथायाः) त्यागं कृत्वा स्व-परहितकारिभाषणमेव
भाषा समितिः वर्तते। यथा—

पेसुण्णहासकक्कस-परणिंदाप्पप्पसंसा-विकहादी।

वज्जित्ता सपरहियं, भासासमिदी हवे कहणं॥

—समणसुत्तं, २/२६/१९

वाण्याः विवेकः श्रमणस्य गृहस्थस्य च कृते आवश्यकोस्ति।
कस्यापि पृष्ठे सत्यमपि स्वकृते अन्यस्य कृते वा सावद्यवचनं
(पापवचनं) न वदेत्। निरर्थकं तथा मर्मभेदकवचनं न वदेत्। यथा—

न लवेज्जुप्पुटो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।

अप्पणट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥

—समणसुत्तं, २/२६/१६

कटुं प्राणिभ्यः दुःखदां च वाणीं न वदेत्। एतादृशं सत्यवचनमपि
न वदेत् येन पापबन्धः भवेत्। यथा—

तहेव फरूसा भासा, गुरूभूओवघाइणी।

सच्चा-वि सा न वत्तव्या, जझो पावस्स आगमी॥

—समणसुत्तं, २/२६/१७

एवमेव नानाविध अंग-भंग युक्तान् जनान् तादृशं न वदेत् येन
कष्टानुभूतिः भवेत्। यथा—

तहेव काणंकाणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।

वाहिवं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥

—समणसुत्तं, २/२६/१८

(३) एषणा समितिः—उद्गम-दोषः उत्पादन-दोषः च अशन-दोषो रहितं भोजनं शम्यावसतिकादिः शोधमतश्च मुनेः एषणा-समितिः परिशुद्धया भवति। यथा—

उग्गम-उत्पादण-एसणेहि, पिंडं च उवधिं सज्जं वा।

सोधंतस्स ये मुणिणो, परिसुज्झइ एसणा समिदी॥

—समणसुत्तं, २/२६/२२

(४) आदान निक्षेपण समितिः—मुनेः कर्मणि आगतानां वस्तूनां सावधानतया स्थापनं (येन कस्यापि प्राणिनः हिंसा न भवेत्) आदान निक्षेपण समितिः वर्तते। यत्नपूर्वकं प्रवृत्तिकर्ता मुनिः स्वप्रकारद्वयान् उपकरणान् चक्षुसा दृष्ट्वा प्रमार्जनं कृत्वा स्थापयेत्। इयमेव आदाननिक्षेपणसमितिः अस्ति। यथा—

चक्खुसा पडिलेहिता, पमज्जेज्ज जयं जई।

आइए निक्खिक्खेज्जा वा, दुहओयि समिष्ट समा॥

—समणसुत्तं, २/२६/२७

(५) उत्सर्ग समितिः—आहारस्य सह विहारः संलग्नः वर्तते। शारीरिक मूल निःसारणाय एतादृशं स्थानं भवेत्, येन व्रतभंगः, जनानां क्लेशकारकश्च न भवेत्।

साधुभिः मलमूत्रविसर्जनम् एकान्ते जीवरहितस्थाने, ग्रामतः दूरे विरोधरहितस्थाने च करणीयम्। इयम् उच्चारादित्यागरूपप्रतिष्ठापना अथवा उत्सर्गसमितिः वर्तते। यथा—

एगंते अच्चित्ते दूरे, गूढे विसालमविरोहे।

उच्चारादिच्चाआ, पदिठावणिया हवे समिदी॥

—समणसुत्तं, २/२६/२८

३.३.३ धम्मपदं—शुचन्यः

अस्यां मन वचन शरीरस्य गुप्तेः विधानं वर्तते। बुद्धः श्रमणसाधकं मनवचनशरीरक्रियायाः नियमनस्य निर्देशं दत्तवान्। तेन शुचिभावत्रयं कथितम्। शरीरस्य शुचिता, मनसः शुचिता, वाण्याः शुचिता च। हिंसा, चौर्यकर्म कामभोगसम्बन्ध मिथ्याचारः असम्बद्धता शरीरस्य शुचिता वर्तते। मिथ्याभाषण परनिन्दा क्रोधाभावसम्यक् दृष्टिः इति मनसः शुचिता। धम्मपदे भगवता बुद्धेन कथितं वर्तते—व्यक्तिः कायिक दुराचरणतः असम्बद्धः भवेत इति। यथा—

कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे॥
वचीपकोपं रक्खेय्य वाचाय संवुतो सिया।
वची दुच्चरितं हित्वा वाचाय सुचरितं चरे॥
मनोपकोपं रक्खेय्य मनसा संवुतो सिया।
मनो दुच्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरे॥

— धम्मपद, १७/११, १२, १३

यः धीर पुरुषः कार्येण वाण्या मनसा संयतः भवति स एव पूर्णरूपेण संयतः वर्तते। यथा—

कायेन संवुता धीरा अथो वाचाय संवुता।
मनसा संवुता धीरा ते वे सुपरिसंवुता॥

— धम्मपद, १७/१४

बुद्धेनोक्तम्—भिक्षुः गमने आगमने दर्शने पात्रादिधारणे सचेतः भवति। गमने उपवेशने शयने तथा वदने सचेतः भवति। एवं प्रकारेण भिक्षुः सम्प्रज्ञः भवति। गमनकाले श्रेष्ठभिक्षुना अग्रे न भवेत् दृष्टिं भूमौ स्थाप्य तूष्णीं गम्येत्। रात्रि व्यतीते सति ग्रामे स्थित्वा भिक्षाटनं कृत्वा भोजनं कुर्यात्। एवं प्रकारेण अविचलित भूत्वा वने गमनं कुर्यात्। असमये विचरणं न कुर्यात् समयत एव भिक्षाटनाय ग्रामे गच्छेत्।

यतोहि—असमये विचरणेन आसक्तिः भवति। अतः ज्ञानयुक्ताः पुरुषा असमये विचरणं न कुर्वन्ति।

धम्मपदे कथितमस्ति यः भिक्षुः वाण्या संयतः, मितभाषी विनीतश्च भवति स एव धर्ममर्थं च प्रकाशयति। तस्य भाषणं मधुरं भवति। यथा—

यो मुखसज्जतो भिक्षु मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मज्ज दीपेति मधुरं तस्स भासितं॥

— धम्मपद, २५/४

३.३.४ तुलनात्मकमध्ययनम्

ग्रन्थद्वयस्य तुलनात्मक अध्ययनेन ज्ञातं भवति यत् यत् आचरणम् गुप्तसमिति माध्यमेन समणसुत्ते कथितम्, स एव आचरणं धम्मपदेऽपि वर्णितं विद्यते।

परम्पराद्वयेषु शाब्दिकभिन्नतायाः सत्वेऽपि मूलमन्तरात्मना एकीकरणं विद्यते।

बुद्धेन शुचित्रयभावानां प्रकारत्रयमौनानां रूपे वस्तुतः जैनपरम्परायाः समणसुत्तस्य च गुप्तित्रयस्येव विधानं कृतम्।

एवं प्रकारेण समणसुत्तस्य पंचसमितिषु यानि वचनानि सन्ति तान्येव वचनानि बुद्धेन धम्मपदे प्रकटितम्। बुद्धेनोक्तम् भिक्षुः गमने आगमने दर्शने पात्रादि-संचयने सचेतः भवति। एवमेव शयने वदनेत्यादि कार्येषु सचेतः भवति। एवं प्रकारेण भिक्षुः सम्प्रज्ञरूपेण स्वीकृतः (संयुत्त निकाय, ३४/५/१/७)।

एव प्रकारेण ग्रन्थद्वयस्य दृष्टिकोणः समानेव वर्तते।

३.४.० त्रिशरणम्

बौद्धधर्मे बुद्धः, धर्मः संघश्च त्रीणि रत्नानि अमन्यत। त्रयाणां तुलना वैधेन, भैषज्येन उपस्थापकेन कृताऽस्ति। अतः रत्नत्रयायेति

कथयित्वा नमस्क्रियते स्म। अनेन भयं दुःखं च दूरी भवति। त्रिशरण-गमनं बौद्धसंघे प्रवेशस्य प्रथमं औपचारिकी आवश्यकता अस्ति। प्रब्रज्या प्रार्थिनं शिरसः श्रमश्रुणश्च मुण्डनं काषायवस्त्राणि परिधाय उत्तरासंगं स्कन्धे निधाय हस्तौ संयोज्य त्रिः कथनम् आवश्यकं भवति यत् बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि इति (विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ २४, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ १४०)।

शरणस्यार्थः दृढ निश्चयः तदनुसारम् आचरणं च। भगवान् बुद्धः पूजायाः पाठस्य च निषेधम् अकरोत्। धर्माचरणं प्रति सर्वान् प्रेरयति स्म (महापरिनिब्बानसुत्त, पृष्ठ १४४)।

३.४.१ धम्मपदे त्रिशरणम्

धम्मपदे भगवान् बुद्धः अकथयत् यत् मनुष्यः भयवशात् वन-वृक्ष-चैत्य-उद्यान-पर्वतादिषु देव-कार्यं कल्पयित्वा शरणं व्रजन्ति। इमानि शरणानि न मंगलदायकानि च चोत्तमानि सन्ति यतः एतेषां शरणं गत्वा सर्वदुःखेभ्यः मुक्तिः न प्राप्यते। यथा—

बहुं वे सरणं सन्ति पब्बतानि वनानि च।

आराममरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता॥

नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।

नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

— धम्मपद, १४/१०

य कश्चिद् अपि बुद्धस्य धर्मस्य संघस्य च शरणं गच्छति चतुर्णां आर्यसत्यानां च भावनां करोति स एव सर्वदुःखेभ्यः मुक्तः भवति। मुक्तिमार्गी च आर्यम् अष्टांगिकं मार्गं सम्यक् प्रज्ञया अवलोकयति। इदमेव रक्षादायकं शरणम् अस्ति। इदमेव उत्तमशरणम् अस्ति। इदमेव शरणं प्राप्य सर्वदुःखेभ्यः मुक्तः भवति। यथा—

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कम।

अरिय अट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं॥

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा यमुच्चति॥

— धम्मपद, १४/१३, १४

बुद्धानुस्मृतिः १७ धर्मानुस्मृतिः—८, संधानुस्मृतिः—५, इमाः तिस्रः स्मृतयः सन्ति। एषाम् अभ्यासेन मनः क्लेशेभ्यः मलेभ्यः, आवरणेभ्यश्च निर्मलं च भवति। यथायोग्यं च प्रथम-द्वितीयादिध्यानानां प्राप्तिः भवति।

बुद्धस्याविर्भावः बोधेः अभवत् न च मातुर्गर्भात्। अतः बुद्धपुरुषस्याविर्भावः लोके अतिदुर्लभः अस्ति। यथा—

किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्यान जीवितं।
किच्छं सद्धम्मसवणं किच्छो बुद्धानं उप्पादो॥

— धम्मपद, १४/४

येषां स्मृतिः अनवरतम् बुद्ध विषयिकी विद्यते ते गौतम-शिष्याः सस्मृतयः स्वपन्ति जाग्रन्ति च। यथा—

सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रतो च निच्चं बुद्धगता सन्ति॥
सुप्पबुद्धं पबुज्झन्ति सदा गोतमसावका।
येसं दिवा च रतो च निच्चं धम्मगतो सन्ति॥

— धम्मपद, २१/७, ८

एषां विशेषणानां कारणात् बुद्धस्य व्यक्तित्वस्य विशालतां भारतीयाः वैदेशिकाश्च स्वीकुर्वन्ति स्म। सा अनन्तकोमलताया पापरहित्यस्य च मूर्तिः अस्ति।

धम्मपदे भगवान् बुद्धः बुद्धस्य, धर्मस्य संघस्य च मैत्रीं सुखदायिकां अकथयत्। बुद्धानां जन्म सुखदायकम् भवति। सद्धर्मस्य च उपदेशः सुखदायकः अस्ति। संघे एकता सुखदायिका अस्ति। एकता सम्पन्नो भूत्वा तपश्चरणं सुखदायकम् अस्ति। यथा—

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो॥

— धम्मपद, १४/१६

३.४.२ समणसुत्ते त्रिशरणम्

अर्हतेभ्यः नमस्करणं सिद्धेभ्यश्च नमस्करणम् उपदिष्टम्।
आचार्येभ्यश्च नमस्काराय आदेशितम्। उपाध्यायेभ्यः लोकवर्ति-
सर्वसाधुभ्यश्च नमस्काराय आदेशितम्। यथा—

णमो अरहताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणं॥

— समणसुत्तं, १/१/२

अयम् पंचनमस्कार-मन्त्रः सर्वपापनाशकः अस्ति। सर्वमंगलानां
च प्रथमं मंगलम् अस्ति। यथा—

एसो पंचणमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसि, पढमं हवइ मंगलं॥

— समणसुत्तं, १/१/२

अर्हत्-सिद्ध-साधु-केवलि-प्रणीतं धर्ममंगलम् अस्ति। अर्हत्
लोकोत्तमः अस्ति। सिद्धाः लोकोत्तमा सन्ति। साधवः लोकोत्तमाः सन्ति।
केवलिप्रणीतः धर्मः लोकोत्तमः अस्ति। अर्हतां शरणं गच्छामः। सिद्धानां
शरणं गच्छामः। साधूनां शरणं गच्छामः। केवलिप्रणीतधर्मस्य शरणं
गच्छामः। यथा—

अरहता मंगलं। सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं।
केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं॥
अरहता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा।
केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो॥
अरहते सरणं पव्वज्जामि। सिद्धे शरणं पव्वज्जामि।

साहू सरणं पव्वज्जामि।

केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वजामि।

—समणसुत्तं, १/१/३, ४, ५

मंगलस्वरूपाणाम् चतुःशरणरूपाणां लोकोत्तमानाम् परमाराध्यरूपाणां, मनुज-सुरविद्याधरैः पूजितानां कर्मशत्रुविजेतृणां पंचगुरुणाम् (परमेष्ठिनाम्) ध्यानं कर्तव्यम्। यथा—

ज्ञायहि पंच वि गुरवे, मंगलउसरणलोयपरियरिए।

णर-सुर-खेयर-महिए, आराहणणयगे वीरे।।

—समणसुत्तं, १/१/६

३.४.३ तुलनात्मकमध्ययनम्

द्वयोः ग्रन्थयोः अध्ययनेन ज्ञायते यत् समणसुत्ते पंचगुरुणां ध्यानस्य वार्ता कथिता अस्ति। किन्तु धम्मपदे बुद्ध-धम्म-संधानाम् वार्ता कथिता अस्ति। एवं समणसुत्ते पंचपरमेष्ठिनां ध्यानं कर्तव्यम् एवं पंचशरणानि चर्चितानि किन्तु धम्मपदे त्रीणि शरणानि एव वर्णितानि। एवं द्वयोपरि आराधना कृता वर्तते।

३.५.० भिक्षुः/साधुः

भिक्षु शब्दस्य कृते पालिभाषायां भिक्खु इति शब्दः व्यवहृतः यस्य तात्पर्योऽस्ति गृहत्यागी भिक्षया जीवननिर्वाहं कुर्वाणः परिव्राजकः। जैन बौद्धयोः उभयोपरि धर्मयोः भिक्षुजीवनस्य पवित्रतास्थापनार्थं विभिन्न नियमानां विधानम् अस्ति (बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १८३)।

यः सर्वप्रकारकेभ्यः सङ्गेभ्यो मुक्तः सः साधुः भावभिक्षुः उच्यते। यः गणेषु सत्सु अपि निरभिमानः तिष्ठति, सः भावभिक्षुः उच्यते। यः कमपि न परिहसति स एव सद्भिक्षुः। एतादृश आदर्शे भिक्षुः सदैव कल्याण मार्गे स्व-आत्मानं स्थिरीकृत्य नश्वरम् अपवित्र देहावासं विहाय जन्ममरणानि बन्धनानि सर्वथा आच्छिद्य अपुनरागतिं मोक्षं प्राप्नोति (दशवैकालिक, अध्याय-१०)।

जैन परम्परायां भिक्षु इति शब्दस्य प्रयोगः नाधिकं दृश्यते। अपितु तत्स्थाने अर्हत् साधु इति शब्दयोः प्रयोगः प्रायेण क्रियते।

३.५.१ धम्मपदे भिक्षुः/साधुः

सर्वत्र संवरयुक्तो भिक्षुः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते। शरीरस्य संयमः साधु भवति वचनस्य संयमः साधु भवति मनसः संवरोऽपि साधु भवति, सर्वेषामपि इन्द्रियाणां संयमः साधु भवति। एवं भिक्षुः सर्वेभ्यो दुःखेभ्यो मुक्तः संवर युक्तो भवति। यथा—

कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवृतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

— धम्मपद, २५/२

यस्य हस्तपादवचनेषु संयमः भवति य उत्तमसंयमी अस्ति, यः तपोरतः अस्ति, समाधि युक्तः एकाकी (केवलः) सन्तुष्टः अस्ति स एव भिक्षुः उच्यते। यथा—

हत्थ सञ्जतो पादसञ्जतो वाचाय सञ्जतो सञ्जतुत्तमो।
अञ्जत्तरतो समाहितो एको सन्तु सितो तमाहु भिक्खुं॥

— धम्मपद, २५/३

शरीरवचोभ्यां शान्तः सम्यक् समाधि युक्तः लोकाभिषं भ्रमन् भिक्षुः उपशान्त इति उच्यते। यथा—

सन्तकायो सन्तवाचो सन्तवा सुसमाहितो।
वन्तलोकामिसो भिक्खु उपसन्तोति वुच्चति॥

— धम्मपद, २५/१९

मधुरभाषी एव भिक्षुः। यः मुखे संयमं विदधाति, मननं कृत्वा संभाषते उद्धतो न भवति, अर्थधर्मो प्रकटी करोति, तस्य भाषणं मधुरं भवति। यथा—

यो मुख सञ्जतो भिक्षु मन्तभाणी अनुद्धतो।
अत्थं धम्मं च दीपेति मधुरं तस्स भासितं॥

— धम्मपद, २५/४

धर्मे रमणेन न परिहानिर्भवति। धर्मे रम्यमाणः धर्मरतः
धर्मचिन्तकः धर्मानुस्मरणशीलः भिक्षुः सद्धर्मात् च्युतो न भवति।
यथा—

धम्मरामो धम्मरतो धम्मं अनुविचिन्तयं।
धम्मं अनुस्सरं भिक्षु सद्धम्मा न परिहायति॥

— धम्मपद, २५/५

शून्यगृहे प्रविष्टः शान्तचित्तः भिक्षुः सद्धर्मं विपश्चन् उभानुषीं
रतिं (दिव्यानन्दं) प्राप्नोति। यथा—

सुज्जागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्षुवो।
अमानुसी रतिं होति सम्माधम्मं विपस्सतो॥

— धम्मपद, २५/१४

मैत्रीपूर्वकं विहारं कुर्वाणः यः बुद्धशासने प्रसन्नचित्तो भिक्षुः
भवति, सः संस्काराणामुपशमं सुखमयं पदं प्राप्नोति। यथा—

मेत्ताविहारी यो भिक्षु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं॥

— धम्मपद, २५/९

हे भिक्षु। त्वं अनया नौकया सिंच। एवम् इयं लघु-भविष्यति।
रागद्वेषं छित्वा पुनः निर्वाणं प्राप्स्यसि। यथा—

सिंच भिक्षु! इमं नावं सिन्ता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागं च दोसं च ततो निब्बानमेहिसि॥

— धम्मपद, २५/१०

यथा वस्सिका मूर्च्छितानि पुष्पाणि विमुंचति तथैव हे भिक्षवः।
यूयं रागद्वेषं विमुंचत। यथा—

वस्सिका पिय पुप्फानि मदवानि पमुचति।
एवं राग च दोस च विप्पमुञ्चेथ भिक्खवो॥

— धम्मपद, २५/१८

भिक्षो! ध्यानरतो भव प्रमादं मा कुरु तव चित्तं भोगेषु मा रम्यताम्
प्रमत्तो भूत्वा लौहगोलकं मा निगलस्व। हा! दुःखं, इति कथयित्वा
दग्धीभूय मा क्रन्दस्व। यथा—

ज्ञाय भिक्खु! मा च पमादो मा ते कामगुणे गमस्सु चित्तं।
मा लोहगुलं गिली पमत्तो मा कन्दि दुक्खमिदन्ति हुटहमानो॥

— धम्मपद, २५/१२

प्रज्ञाविहीनस्य पुरुषस्य ध्यानं न भवति। अनध्यायमानस्य च प्रज्ञा
न भवति। यस्य ध्यानं प्रज्ञा चोभे तिष्ठतः स एव निर्वाणस्य निकटम्
अस्ति। यथा—

नत्थि ज्ञानं अपज्जस्स पज्जा नत्थि अज्ञायतो।
यम्हि ज्ञानं च पज्जा च स वे निब्बानसन्तिके॥

— धम्मपद, २५/१३

यः सेवासत्कारभावयुक्तः आचारपालने निपुणः अस्ति सः सानन्दं
दुःखं अपाकरिष्यति। यथा—

पटिसन्थारवुत्तस्स आचारकुसलोसिया।
ततो पामोज्जबहुलो दुक्खस्सन्तं करिस्सति॥

— धम्मपद, २५/१७

बुद्धशासने प्रसन्नः बुद्धप्रमोदयुक्तः भिक्षुः संसारं रोगशमयितारं
सुखमयं शान्तपदम् अधिगच्छति। यथा—

पामोज्जबहुलो भिक्खु पसन्नो बुद्धसासने।
अधिगच्छे पदं सन्तं संखात्समं सुखं॥

— धम्मपद, २५/२२

यः भिक्षुः बुद्धशासने संलग्नो भवति सः मेघयुक्तः चन्द्रमा इव प्रकाशं वितरति। यथा—

यो हवे दहरो भिक्षु युज्जति बुद्धसासने।
सो इमं लोकं पभासेति अब्भा मुत्तोवचन्दिमा॥

— धम्मपद, २५/२३

३.५.२ समणसुत्ते भिक्षुः/साधुः

समणसुत्ते साधुशब्दः भिक्षुशब्दापेक्षया अधिकं प्रयुक्तः। यः सत्कारं पूजां वन्दनां वापि न वाञ्छति सः कस्मादपि प्रशंसाया अपेक्षां कथं करिष्यति यः संयतः सुव्रती, तपस्वी आत्मान्वेषी चास्ति, स एव भिक्षुः। यथा—

नो सक्कियमिच्छई न पूमं, नो वि य वन्दणं गुओ पसंसं।
से संजए सुव्वए तवस्सी, सहिए आयगवेसए स भिक्षु॥

— समणसुत्तं, २/१८/१६

साधुः ममत्वरहितः निःसंगः, गौरवत्यागी त्रसथावरान् प्रति समदर्शी भवति। सः लाभालाभे सुखदुःखे, जीवनमरणे, निन्दास्तुतौ, मानापमाने च समभावस्तिष्ठति। यथा—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ॥

— समणसुत्तं, २/२४/११

समणसुत्ते कथितम् यत् साधवः कथमपि संग्रहं न कुर्वन्ति। पक्षी इव संग्रहनिरपेक्षो भूत्वा संयमोपकरणः विचरेत्। यथा—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

— समणसुत्तं, २/२४/१२

शय्या-आसन-आहाराणाम् अतिलाभेऽपि सति योऽल्पेन सन्तुष्यते

अधिकं न गृह्णाति, सः सन्तोषे एव प्रमुखरूपेण अनुरक्तः साधुः पूज्यो भवति। यथा—

संव्यारसेज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे विसत्ते।

एवप्पपाणभि तोसएज्जा, संतोसपाहनरए स पुज्जो॥

—समणसुत्तं, २/२५/१८

सम्पूर्ण परिग्रहरहितः समरसः साधुः सूर्यास्तानन्तरं सूर्योदयात्पूर्वं च कस्यापि प्रकारस्य आहारादेः इच्छां मनसि न कुर्यात्। यथा—

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था अणुग्गए।

आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि ण पत्थार॥

—समणसुत्तं, २/१५/१९

गोचरार्थं गम्यमानः मुनिः वर्जितभूमौ न प्रविशेत्। कुलभूमिं ज्ञात्वा मितभूमिं यावदेव गच्छेत्। यथा—

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगा ओ मुणी।

कुलस्स भूमिं जाणिता, मियं भूमिं परक्कमे॥

—समणसुत्तं, २/२५/९

साधुः स्वयं आत्मने परेभ्यो वा क्रोधभयादीनां वशे भूत्वा हिंसात्मकमसत्यवचनं न प्रयुज्येत् न च प्रयोजयेत्। यथा—

अप्पणट्ठो परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।

हिसणं न भुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥

—समणसुत्तं, २/२५/६

साधुः ग्रामेनगरे अरण्ये वा परवस्तु दृष्ट्वा तद्ग्रहणस्य भावं त्यजेत् (समणसुत्तं, २/२५/७)।

स चेतनमचेतनम् वा अल्पं बहु वा, किं बहुना? दन्तोच्छेदिनी शलाका अपि साधुना अदत्त्वा न ग्राह्या (समणसुत्तं, २/२५/८)।

मैथुनसंसर्गोऽधर्ममूलम् महद्दोषाणां समूहश्चास्ति। अतः साधवः सर्वथा सर्वदा मैथुनत्यागं कुर्वन्ति (समणसुत्तं, २/२५/१०)।

बृद्धा, बालिका युवती इति त्रीणि स्त्री प्रतिरूपाणि दृष्ट्वा तासां मातृभावेन पुत्रिभावेन भगिनिभावेन च दर्शनं स्त्रीकथानिवृत्तिश्च साधोः कृते आवश्यकम्। एवं सः त्रैलोक्येऽपि पूजितो भवति (समणसुत्तं, २/२५/११)।

३.५.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

उभयग्रन्थयोः अध्ययनेन ज्ञायते यत् उभये समानता विद्यते। भिक्षुकाः संयमिताः स्युः इति उपदेशः धम्मपदे समणसुत्तेः ग्रन्थद्वये विद्यते। दुःखेभ्यः मुक्तिः संयमात् एव सम्भवा (धम्मपद, २५/२, समणसुत्तं, २/२५/१७)।

भिक्षुकाः मधुरभाषकाः, सत्यवादिनः भवन्तु, क्रोधेन भयेन वा हिंसकवचन-प्रयोगं न कुर्वन्तु, अन्यान् अपि तथा कर्तुं न प्रेरयन्तु इत्यपि ग्रन्थद्वये प्रतिपादितम्। लाभे अलाभे, सुखे दुःखे, माने अपमाने च समभावः भवेत्। साधुजनेषु संतोषस्य प्रवृत्तिः अपि दृश्यते।

भिक्षुकः ध्यानी भवेत्! ध्यानी एव मननियंत्रणं कर्तुं शक्नोति। ध्यानस्य प्राधान्यं ग्रन्थद्वये निरूपितम्। रागद्वेषत्यागाय धम्मपदे समणसुत्ते सर्वत्र प्रधानता प्रदत्ता। एवं ग्रन्थद्वये समानता दृश्यते परन्तु भिन्नता अपि दृश्यते कतिपय स्थलेषु।

धम्मपदे भिक्षु-शब्दः प्रयुज्यते परन्तु समणसुत्ते अधिकांशतः साधु-शब्दस्य प्रयोगः कृतः।

समणसुत्ते प्रस्तुतम् सूर्योदयतः पूर्वं सूर्यास्ततः पश्चात् च मनसि भोजनाय इच्छा अपि न करणीया परन्तु धम्मपदे एवम् न वर्णितम्।

साधुं दानेन विना कापि वस्तुः न गृहणीयः। शय्या, आसनम्, आहारश्च अतिलाभे अपि अल्पेन एवं संतुष्टः साधुः पूज्यः इति समणसुत्ते लिखितम्।

३.६.० पाप-पुण्यः

शुभाशुभभेदेन कर्म द्विविधं भवति। शुभ कर्मणः अपरं नाम पुण्यमस्ति अशुभकर्मणच्च अपरं नाम पापमस्ति। एवं पुण्यपापे न शुभाशुभकर्म व्यतिरिक्तो स्तः। शुभाशुभ कर्मणां सम्बन्धः प्राणि-शरीरेणास्ति अतः पुण्यपापयोः अपि सम्बन्धः प्राणिशरीरेणास्ति। यदा कोऽपि नरः पुण्यवान् कथ्यते तदा तस्य शरीरं शुभकर्मोदय युक्तमस्ति अर्थात् सः सर्वथा दुःखी भवति। एवं पुण्य पापयोः फलं सुख दुःखं चास्ति। सुख-दुःखे मानवव्यक्तित्वस्य निर्माणम् पुण्य-पाप (शुभाशुभं) कर्माधारेण भवति। उभे अपि बन्धन-कारणे स्तः। अनयोर्भेदः केवलम् व्यावहारिक-स्तरेऽस्ति। उभयोः क्षयादेव मुक्ति प्राप्यते। यथा—

दुविहं खवेऊण य पुण्णपापं निरंगणे सव्व ओविप्प मुक्के।
तरिप्ता समुददं व महामवेधं समुददपाले अपुणागमग ए॥

—वही, २१/२४

पुण्यं मनुष्य-चरित्रस्य श्रेष्ठतायाः सूचकमस्ति। एतद् विपरीत पापं चरित्रस्य नैतिक-पतनस्य चिह्नमस्ति। (दृष्टव्य-नीति शास्त्र का समीक्षात्मक अध्ययन, गुलाम मुहम्मद, पृष्ठ ५८)।

इच्छया कर्तव्य-पालनात् सत्कर्म-करणाच्च मानव-चरित्रस्य नैतिकोत्कर्षस्य वृद्धिरेव पुण्यमस्ति। नैमिक-मूल्य-क्षयः एव पापमस्ति।

३.६.१ धम्मपदे पाप-पुण्य-वर्णनम्

धम्मपदे कथितमस्ति यत् पापकर्मणः अकरणं श्रेष्ठमस्ति। पापकर्म करणादनन्तरं दुःखं भवति। पुण्य-कार्य-करणं श्रेयस्करमस्ति यत् कृत्वा नरो दुःखं नाप्नोति। यथा—

अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं।
कतं च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानातुप्पति॥

—धम्मपद, २२/९

धम्मपदे प्रोक्तं यत् येनकृतं पापकर्म पुण्यकर्मणा आच्छाद्यते स इमं लोकं घन-पटल-विनिर्गतं चन्द्रवत् लोकं प्रकाशयति। यथा—

यस्य पापं कृतं कम्मं कुसलेन पिथी यति।

सो 'अ' लोकं पभासेति अब्भा मुत्तो व चन्दिमा॥

— धम्मपद, १३/७

पाप-कर्म-कर्ता इहलोके परलोके च उभयोः लोकयोः दुःखी भवति। सः स्व-कुत्सित-कर्माणि दृष्ट्वा शोकं करोति दुःखित भवति। यथा—

इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति।

सो सोचति सो विहज्जति दिस्वा कम्मकिलिट्ठमत्तनो॥

इध तप्पति पेच्च तप्पात् पापकारी उभयत्थ तप्पति।

पापं मे कर्तान्ति तप्पति मिथ्यो तप्पति दुग्गतिङ्गतो॥

— धम्मपद, १/१५, १७

पुण्यकर्ता उभयोः अपि लोकयोः आनन्दम् अनुभवति प्रमोदते च। यथा—

इध मोदति पेच्च मोदति कतपुज्जो उभयत्थ मोदति।

सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो॥

— धम्मपद, १/१५

इध नन्दति पेच्च नन्दति कतपुज्जो उभयत्थं नन्दति।

पुज्जं मे कतन्ति नन्दति भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो॥

— धम्मपद, १/१८

धम्मपदे नैतिक-साधनस्य अन्तिमावस्थायाम् पुण्य-पापयोः उपरितना वार्ता प्रोक्ता एवं समानविचाराणाम् प्रतिपादनम् प्राप्यते।

धम्मपदे प्रोक्तं यत् मनुष्यः बारंबारम् पापं न कुर्यात्, पापे रतो न स्यात् यतः पापाणां संचयः दुःख-दायको भवति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १/१)।

सः भस्मच्छन्नाग्निवत् मूर्खं दहन् तमनुधावति। यथा—

न हि पापं कृतं कम्मं सज्जुरवीरं 'व मुच्चति।

डहन्तं बालमन्वेति भस्माच्छन्नो 'व पावको॥

— धम्मपद, ५/१२

अतएव कल्याणकारि-कार्यकरणे शीघ्रता विधेया। पापात् चित्तं निवारयेत् यतः पाप संचयः दुःखदायको भवति किन्तु पुण्य-संचयः सुखंदायको भवति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, ९/३)।

धम्मपदे प्रोक्तं यत् यावत् पाप-फलं न प्राप्येत तावत् पापी अपि पापं शुभं जानाति किन्तु यदा पापफलं प्राप्येत तदा सः सर्वत्र पापमेवानुपश्यति। यथा—

पापोपिपस्सति भद्रं याव पापं न पच्चति।

यदा च पच्चति पापं अथ पापो पापानि पस्सति॥

— धम्मपद, ९/४

अशुभकर्मणां फलम् अशुभम् भवति शुभकर्मणां च फलम् भवति। यावत् पुण्यफलं न प्राप्यते तावत् पुण्यात्मा अपि पुण्यम् अशुभं जानाति किन्तु यदा पुण्यस्य फलं प्राप्यते तदा सः सर्वत्र पुण्यमेवानुपश्यति। यथा—

भद्रोपि पस्सति पापं याव भद्रं न पच्चति।

यदा च पच्चति भद्रं अथ भद्रो भद्रानि पस्सति॥

— धम्मपद, ९/५

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् यत् कर्म कृत्वा नरः पश्चात् तापं करोति तत् कर्म शुभं न भवति यस्य परिणामं अश्रुपातं कृत्वा रुदन् अनुभवति। यथा—

न तं कम्मं साधु यं कत्वा अनुत्तप्यति।

यस्स अस्सुमुखो रोदं विपाकं पटिसेवति॥

— धम्मपद, ५/८

एतद्-विपरीतं यत् कृत्वा नरो न शोचति यस्य परिणामं च
सर्विश्वासं प्रसन्नतया अनुभवति तत् कार्यं शुभं भवति। यथा—

तच्च कम्मं कतं साधु यं कत्वा नानुत्तवति।
यस्स पतीतो सुमनो विपाक पटिसेवति॥

— धम्मपद, ५/९

अतः नरःस्वपापानि विषवत् त्यजेत्। यथा—
वाणिजो व भयं मग्गं अप्पसत्थो महद्धनो।
विसं जीवितुकामो व पापानि परिवज्जये॥

— धम्मपद, ९/८

केचित् पापकर्तारः गर्भात् उत्पद्यन्ते, केचिच्च नरकं यान्ति, केचित्
सुगतिनः स्वर्गं यान्ति परिनिर्वाणं च प्राप्नुवन्ति। यथा—

गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयंपापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा॥

— धम्मपद, ९/११

न अन्तरिक्षे, न समुद्रमध्ये, न पर्वतानां विवरम् प्रविश्य पापी
पापकर्मेभ्यः क्वचिदपि न रक्षितो भवति। ईदृशं किमपि स्थानं नास्ति
यत्र निवसन्तं मृत्युर्न मारयेत्। यथा—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितो मुज्जेय्य पापकम्मा॥
न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झं न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितं नप्पसहेय्य मच्चू॥

— धम्मपद, ९/१२, १३

३.६.२ समणसुत्ते पाप-पुण्य-वर्णनम्

शुभ-परिणामः पुण्यमस्ति अशुभ-परिणामश्च पापमस्ति। स्वद्रव्ये
प्रवृत्तः परिणामः धर्मोऽस्ति यो यथा-समयं दुःख-क्षय कारणं
भवति। यथा—

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पापत्तिभणियमन्नेसु।
परिणामोणन्नगदो, दुक्खक्खयकारणं समये॥

—समणसुत्तं, २/१६/७

यः पुण्येच्छां करोति स संसारस्यैव कामनां करोति। पुण्यं सुगतिकारणमस्ति किन्तु निर्वाणम् पुण्यक्षयात् भवति। यथा—

पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सुगईहेहुं, पुण्ण ख एणेव विच्चाणं॥

—समणसुत्तं, २/१६/८

समणसुत्ते प्रोक्तं यथा नर स्वर्णमयैः आयोमयैः द्विविधैरपि निगडैः वध्यते तथैव नरम् पाप-पुण्ये (शुभाशुभ कर्मणी) उभे अपि वध्नीतः। यथा—

सोवण्णियं पि णियलं, बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वाकदं कम्भ॥

—समणसुत्तं, २/१६/१०

अतः द्विविधे अपि कर्मणी कुशीले मत्वा तैः सह न रागं कुर्यात् न संसर्गं कुर्यात्। यतः कुशीलकर्मभिः सह रागात् संसर्गाच्च स्वाधीनता विनश्यति। यथा—

तम्हा दु कुसीलेहिं, रागं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो, कुसीलसंसग्गरागण॥

—समणसुत्तं, २/१६/११

पुण्य-प्रतापात् देवलोके यथास्थाने निवासं कृत्वा आयुक्षये सति देवगणाः ततो निवर्त्य मनुष्य-योनौ उत्पद्यन्ते। तत्र ते दशांगभोग-सामग्र्या युक्ताः भवन्ति। यथा—

तत्पठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, सेदुसग्गेऽभिजायए॥

—समणसुत्तं, २/१६/१४

राग-द्वेष-नामके द्वे पापे पाप-कर्म प्रवर्तके स्तः। यो भिक्षुः सदा अनयोः निरोधं करोति सः संसारे न तिष्ठति मुच्यते। यथा—

रागे दोसे म दो भावे, पावकम्म पवत्तणे।

जो भिक्खू रुंभई निच्चं, से न अच्छइ मंडले॥

—समणसुत्त, २/१०/९.

ज्ञानी-पुरुषः अध्यात्म-द्वारा पापानि तथैव समाहरति यथा कूर्म स्वांगानि स्व-शरीरे संकोचयति। यथा—

जहा कुम्भे सन्नगाई, एस देहे समाहरे।

एवं पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

—समणसुत्त, १/१०/१६

३.८.३ तुलनात्मकमध्ययनम्

उभयोः ग्रन्थयोः पठनात् प्रतीयते यत् धम्मपदेऽपि बुद्धेन प्रोक्तं यत् जीव शुभाशुभकर्मभिरेव संसारे परिभ्रमति। समणसुत्तेऽपि एतदेव प्रोक्तम् नैतिक जीवनस्य पूर्णता पुण्य-पापयोः ऊर्ध्वं गमनेऽस्ति।

धम्मपदे प्रोक्तं यत् शुभकर्मणः शुभफलं प्राप्यते। नरः पापानि विपवत् परित्यजेत् समणसुत्तेऽपि प्रोक्तं यत् पुण्य-कर्मभिः शुभफलस्य प्राप्तिर्भवति।

उभयोः अपि ग्रन्थयोः पुण्यं सुगतेः कारणं प्रोक्तम्। अनेनैव निर्वाणस्य प्राप्तिर्भवति। देवलोकमपि पुण्यात्मा प्राप्नोति सत्कर्मणा अस्मिन् जन्मनि अपरस्मिन् जन्मनि उभयोरपि जन्मनोः सुखस्य प्राप्तिर्भवति। पापीजनः लोके परलोके उभयत्र दुःखं प्राप्नोति। एवम् उभयोरपि ग्रन्थयोः साम्यमस्ति।

उभयोरपि ग्रन्थयोः पाप-संचयः दुःखकारी पुण्य-संचयश्च सुखकारी प्रोक्तः। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १/२, ३, समणसुत्त, २/१६/८)।

३.७.० तपः

तपस्या भारतीयदर्शन शास्त्रस्य तस्य समस्त-इतिहासस्य च प्रस्तावना वर्तते। समस्त भारतीय-आचार-दर्शनानां जन्म तपस्यायाः अंके संजातम्। वेद-वेदांग-दर्शन-पुराण-धर्मशास्त्र-इत्यादि साधनारूपाणि तपस्या सम्प्रेरकाणि सन्ति। श्रद्धा, ज्ञान, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, समाधि, स्वाध्याय, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, संयम, सेवासत्कारादयः गुणाः तपस्याः परिधिमध्ये सन्ति। (द्रष्टव्यः-अहिंसा वाणी, डा. कामता प्रसाद जैन, पृष्ठ ९६)।

तपसः तात्पर्य-चित्तशुद्धि कृते सतत-प्रयासः। तपः प्रयत्न, प्रयास-इत्यर्थे गृहणीयम्।

वैदिक-ऋषयः तपसः महत्त्वं सबलतम् शब्देषु उद्घोषयन्ति। तपसः एव ऋतं सत्यं च समुद्भूतौ। (द्रष्टव्यः-ऋग्वेद, १०/१९०/१)। तपसः ब्रह्म-अन्वेषणं क्रियते। (द्रष्टव्यः-मुण्डकोपनिषद्, १/१/८)। तपसा वेद प्राप्तिः जाता (द्रष्टव्यः-मनुस्मृति, ११/२४३) तपसा काले विजयप्राप्तिः क्रियते, ब्रह्मलोकस्य च प्राप्तिः भवति। (द्रष्टव्यः-अथर्ववेद, ११/३/५/१९)। तपसा एव तपस्वी जनाः लोकल्याणाय चिन्तयन्ति। (द्रष्टव्यः-अथर्ववेद, १९/५/४१)। तपसा एव लोके विजयप्राप्तिः भवति। (द्रष्टव्यः-शतपथब्राह्मण, ३/४/४/२७)।

३.७.१ धम्मपदे तपः

अज्ञानीजनाः मासे मासे तपस्चर्यां कुर्वन्ति। कुशाग्रम् अल्प भोजनं कुर्वन्ति परन्तु धर्मज्ञस्य षोडश भागमपि न प्राप्नुवन्ति। यथा-

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुज्जेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्धति सोलसिं।।

— धम्मपद, ५/११

भगवतः बुद्धस्य तपस्यायां शारीरिक यंत्रणायाः अभावः वर्तते। सः मनसः दमनम् एव तपस्या इति स्वीकरोति। तपस्यायां चित्तदमनस्य प्रधानता स्वीकृता। अनेन सुखप्राप्तिः भवति।

यः चित्तसंयमं करोति सः सुखं प्राप्नोति। यथा—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकाम-निपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं॥

— धम्मपद, ३/३

सैव निर्वाण प्राप्तः भविष्यति बंधनमुक्तश्च भविष्यति। तपस्यायां चित्तसंयमः आवश्यकः वर्तते। यथा—

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सञ्जमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना॥

— धम्मपद, ३/५

भगवान् बुद्धः मध्यममार्गो आसीत्। तेन स्वमध्यम मार्गे सर्व-प्रकारस्य अति निषेधः कृतः। यथा—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानं च चक्खुमा॥

— धम्मपद, २०/१

३.७.२ समणसुत्ते तपः

यत्र कपाय निरोधः, ब्रह्मचर्यं पालनं जिनपूजनम् अनशनं च क्रियते तत् सतं तपस्यायां कथ्यते। विशेषतः मुग्धाः अर्थात् भक्तजनाः एवमेव तपः कुर्वन्ति। यथा—

जत्थ कसायणिरोहो, वंभं जिणपियूणं अणसणं च।
सो सव्वो चेव तवो, विसेसओ मुद्धलोयमि॥

— समणसुत्तं, २/२८/१

तपः द्विविधम्—(१) बाह्यम्, (२) आभ्यान्तरम्। बाह्यतपः षड्तिथं आभ्यन्तरतपः अपि षड्तिथम्। यथा—

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो॥

— समणसुत्तं, २/२८/२

बाह्यतपः—अनशनम् अवमोदर्पम् (अनोदरिका) भिक्षाचार्या, रसपरित्यागः, कार्यक्लेशः संलीनता इति षड्विधं बाह्यतपः। यथा—

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ॥

—समणसुत्तं, २/८/३

आभ्यान्तरतपः—प्रायश्चित्त-विनय, वैश्यावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग इति षड्विधम् आभ्यान्तर तपः। यथा—

पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झावो।
ज्ञाणं च विउस्सगो, एसो अब्भित्तरो तवो॥

—समणसुत्तं, २/२८/१८

३.७.३ तुलनात्मक-अध्ययनम्

जैन-बौद्ध-परम्पराद्वये निवृत्तिपरक धर्मस्य मान्यता वर्तते। द्वयं ग्रहस्थं दुःखदायी बन्धनकारकम् इति स्वीकरोति सन्यासश्च-मुक्तिदायकः। परम्पराद्वयं स्वीकरोति यत् परम श्रेयस्य उत्पत्त्यर्थम् आत्म संतोषः, अनाशक्तिभावः, मध्यस्थभावः समत्वभावश्च अपेक्ष्यन्ते। एतदर्थम् एकान्त-निर्मोही जीवनस्य आवश्यकता अस्ति। इदं गृहस्थजीवने सम्भवं नास्ति सुलभं नास्ति। एतदर्थं सन्यासः उचितः। सन्यासे एतदर्थं बलं दीयते यतः सामान्य जनेषु तथा योग्यता न भवति यतः सः ग्रहस्थाश्रमे रागद्वेषतः उपरि जीवतु। रागद्वेषमुक्त गृहस्थः प्रशंसितः।

बुद्धस्य साधना पथः कठिन तपस्यायुतं वर्तते। (द्रष्टव्यः—जैन-बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ९९)। महावीरस्य सम्पूर्ण साधनाकालः स्वाध्याय-आत्मचिन्तन, ध्यान-कामोत्सर्ग-युतः वर्तते। साधना लक्ष्यम् आत्मोशुद्धीकरणम् वर्तते।

बुद्धेन यतः कठिनतपः कृतं तत् अवधूत मार्गं समम् उग्रतपस्या। भगवता बुद्धेन यदा तत्र संतोषो न प्राप्तः तदा ध्यानमार्गे प्रवृत्तः। कायिकतपस्या निरर्थका इति तेन प्रतिपादितम्। (द्रष्टव्यः—अहिंसावाणी,

पृष्ठ ९५)। यः साधनार्थं श्रमं करोति, शरीरस्य कष्टं ददाति सः श्रमणः कथ्यते। जैन-बौद्ध-दर्शन-द्वयं श्रमण-संस्कृति-प्रतिनिधित्वं करोति। धम्मपदे तपस्या विधिः न प्राप्यते परन्तु समणसुते तपसः द्वादश-प्रकाराः मिलन्ति।

बौद्धभिक्षुकेभ्यः अति-भोजनं वर्जितम् अस्ति। एहैव, केवलम् एकवारं भोजनाय आदेशितः। जैन-विचारधारायाम् इदम् ऊनोदरी-तपसा मिलति। अस्मिन् आहारस्य मात्रा अल्पा, सीमितसमये आहारग्रहणम्, भिक्षार्थम् स्थाननिश्चितकरणम् इति कथितं वर्तते। अतः साम्यतया सह विषमता अपि दृष्टुं शक्यते।

३.८.० तृष्णा

दुःखोत्पत्तेः कारणं तृष्णास्ति। तृष्णा विषयभोगस्य पिपासास्ति। इयं तृष्णैव बारम्बारम् जीवान् उत्पादयति। इयं तृष्णा विषयाणां रागैः युक्तास्ति तथा तेषां विषयाणाम् अभिनन्दन-कर्त्री अस्ति। तृष्णा यत्र-तत्र सर्वत्र स्व-तृप्तिम् अन्वेष्यति। दुःखभयस्य इदमेव स्वरूपमस्ति। (द्रष्टव्यः-दीर्घनिकाय, भाग-२, पृष्ठ २३०-२३१)।

लोके यः प्रियो भवति तत्रैवेयं तृष्णा उत्पद्यते। चक्षुर्लोके सप्त प्रियाः सन्ति तत्रैवेयं तृष्णा समुत्पद्यते। एवमेव श्रोत्रं, घ्राणं, जिह्वा, कायः, मनः, इन्द्रियाणि, रूप-शब्दादयः इन्द्रिय-विषयाः, इन्द्रिय-विषय-संस्पर्शानाम् अनुकूलता प्रतिकूलतादयः सन्ति यानि निरीक्ष्य चित्तं दुःखी सुखी वा भवति। इयमेव इन्द्रियसंस्पर्शजा वेदना कथ्यते। अत्रैव तृष्णा उत्पद्यते यदि विषय-प्राप्ति-पिपासा मानव-हृदये न स्यात् तर्हि वयमस्मिन् संसारे न पतेम दुःखमपि च नानुभवेम्। (द्रष्टव्यः-बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ २०९)।

३.८.१ धम्मपदे वर्णिता तृष्णा

तृष्णा अतिदृढं बन्धनमस्ति यत् जीवान् संसारात् सांसारिक जीवेभ्यश्च बध्नाति। बुधाः लौहमयम् काष्ठमयम् रज्जुमयं वा बन्धनम्

दृढं न मन्यन्ते। वस्तुतः मणि-कुण्डल-स्त्री-पुत्रादिषु अनुरक्तिरेव दृढं बन्धनमस्ति। यथा—

न तं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुजं पव्वज्ज्व।
सारत्तरता मणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥

— धम्मपद, २४/१२

धीर पुरुषाः इममेव दृढबन्धनम् अपहारकम् शिथिलम्, दुस्त्याज्यं च कथयन्ति। ते धीर पुरुषाः निरपेक्षा भूत्वा कामसुखान् परित्यज्य इमं बन्धनं छित्त्वा प्रव्रजन्ति। यथा—

एतं दलहं बन्धनमाहु धीरा ओहारिनं सिथिलं दुप्पमुज्ज्व।
एतम्पि छेत्त्वान् परिव्वजन्ति अनपेक्खिनो कामसुखं पहाय॥

— धम्मपद, २४/१३

तृष्णा सांसारिक-पुरुषं तथैव बध्नाति यथा लूता स्वयमेव तन्तुजालं रचयति स्वयमेव च तस्मिन् बद्धा भवति। धीर पुरुषाः तृष्णया विविध विषयेषु रागम् उत्पादयन्ति इमान्येव राग-बन्धनानि त्यक्त्वा च आकांक्षारहिताः भूत्वा सर्वदुःखानि परित्यज्य व्रजन्ति। यथा—

ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं सयं कतं मक्कटकोव जालं।
एतम्पि छेत्त्वान् वजन्ति धीरा अनपेक्खिनो सब्बदुक्खं पहाय॥

— धम्मपद, २४/१४

तृष्णा दुष्पूरा अस्ति। स्वर्णमुद्राणां वृष्टौ अपि तृष्णायुक्तो नरो न तृप्यति। यथा—

न कहा पणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विज्जाय पंडितो॥

— धम्मपद, १४/८

तृष्णायाः शोकः उत्पद्यते, तृष्णायाः भयमुत्पद्यते। तृष्णामुक्तस्य जनस्य पार्श्वं न भयमायाति न शोक आयाति। यथा—

तण्हाय जायते सोकोतण्हाय जायते भयं।

तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं॥

— धम्मपद, १६/८

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् प्रमत्त-पुरुषस्य तृष्णा लतावत् वर्धते। यथा वानरः फललोभात् वृक्षात् वृक्षमुत्पतति तथैव तृष्णाभिभूतो नरो जन्म-मरण-चक्रे परिभ्रमति। यथा—

मनुजस्स पमत्तचारिनो तण्हा वड्ढति मालुवा विय।

सो प्लवति हुराहुरं फलमिच्छ'व वनस्मि वानरो॥

— धम्मपद, २४/१

इयं विषमयी तृष्णा यं नरं वशीकरोति तस्य दुःखानि वीरणतृणवत् वर्धन्ते। किन्तु यो नरः इमां नीचतृष्णां स्ववशे करोति तस्य दुःखानि कमल पत्रस्थ-जलबिन्दु वत् पतानि। यथा—

यं एसा सहती जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका।

सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढ'व वीरणं॥

यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।

सोका तम्हा पपतन्ति उदविन्दु'व पोक्खरा॥

— धम्मपद, २४/२, ३

भगवान् बुद्धः कथयति यत् कल्याण प्राप्तये तृष्णाम् समूलमुन्मूलनाय यतः यः उशीरं-तृण, सुगन्धमाघ्रानुभिच्छति स अवश्यम् वीरण-तृण-मुत्पाटयेत् यतो दुष्टं शर-तृणम् उशीर-तृणम् शनैः शनैः प्रवाह-शीला धारेव न नाशयेत्। यथा—

तं वो वदामि भद्दं वो यावन्तेत्थ समागता।

तण्हाय मूलं खणथ उसीरत्थो'व वीरणं।

मा वो नलं व सोतो व मारो भञ्जि पुनप्पनं॥

— धम्मपद, २४/४

यथा छिन्नस्तरुः स्व-सुरक्षित-मूलाधारेण निरन्तम् सुदृढो भवति तथैव यावत् तृष्णायाः कारणानि न नश्येयुः तावत् वारं वारं जन्म-मरण-दुःखं सोढव्यम्। यथा—

यथापि मूले अनुपद्वे दल्हे छिन्नोपि रुक्खो पुनरेव रूहति।
एवम्पि तण्हानुसये अनूहति निव्वत्ततिदुक्खमिदं पुनप्पुनं॥

— धम्मपद, २४/५

तृष्णार्ताः जनाः जाल-बद्ध-शशक वत् इतस्ततो भ्रमन्ति अतः भिक्षुः निर्विकारो भूत्वा तृष्णां दूरी कुर्यात्। यथा—

तसिणाय पुरक्खता पजा परिसप्पन्ति ससो'' व बाधितो।
सज्योजनसंसद्धसंसत्तका दुक्खमुपेन्ति पुनप्पुनं चिराय॥
तसिणाय पुरक्खता पणापरिसप्पन्ति ससो''व बाधितो।
तस्मा तसिणं विनोदये भिक्खू आकङ्खी विरागमत्तनो॥

— धम्मपद, २४/९, १०

भवसागरस्य पारं गन्तुम् इच्छुकाः जनाः सम्मुखस्थां पृष्ठस्थौ मध्यस्थां च तृष्णाम् त्यजेयुः। यदि ते मनः विषयेभ्यः सर्वदा मुक्तमस्ति तर्हि पुनः कदापि जन्म-मरण-चक्रेण न प्रवेक्ष्यसि। यथा—

मुञ्च पुरे मुञ्च पच्छतो मज्झे मुञ्च भवस्सपरागू।
सव्वत्थ विमुत्तमानसो न पुन जातिजरं उपेहिसि॥

— धम्मपद, २४/१५

यः प्राणी सन्देह-मथितः, तीव्ररागयुक्तः, शुभदर्शी च भवति तस्य तृष्णा अधिकं वर्धते सत्त्वकृते दृढबन्धनं निर्माति। यथा—

वितक्कपमथितस्स जन्तुनो तिब्बरागस्स सुभानुपस्सिनो।
भिय्यो तण्हा पवड्ढति एस खो दल्हं करोति बन्धनं॥

— धम्मपद, २४/१६

यः सन्देहानां शान्तिकरणे रतोऽस्ति, यः सदा सावधानो भूत्वा अशुभस्य भावनां करोति, सः मारस्य बन्धने छेत्स्यति, तृष्णायाश्च

विनाशं करिष्यति। यथा—

वितक्कपसमे च यो रते असुभं भावयति सदा सतो।
एस खो व्यन्तिकाहिति एसच्छेच्छति मारबन्धने॥

— धम्मपद, २४/१७

यः तृष्णारहितः, परिग्रह-रहितः निरुक्ति-पदयोः ज्ञाता, अक्षराणां
पूर्वापदविन्यासज्ञः भवति स एव अन्तिम-शरीरवान् महाप्रज्ञश्च कथ्यते।
यथा—

वीततण्हो अनादानो निरुत्तिपदकोविदो।
अक्खरानं सन्निपातं जज्जा पुब्बापरानि च॥
स वं अन्तिमसारीरो महापज्जोति पुच्चति॥

— धम्मपद, २४/१९

धर्मदानम्, सर्वदानेभ्यः श्रेष्ठतममस्ति धर्मरसः सर्वरसेभ्यः
प्रबलतमः अस्ति। धर्मरतिः सर्वरतिभ्यः श्रेष्ठतमा अस्ति। तृष्णा-हानिः
सर्वदुःखान् जयति। यथा—

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति सब्बं रसं धम्मरसो जिनाति।
सब्बरतिं इतिं धम्मरतो जिनाति तण्हक्खयो सब्बदुक्खं जिनाति॥

— धम्मपद, २४/२१

संसारस्य पारं यातुं प्रयत्नम् अकुर्वाणम् दुर्बुद्धिः पुरुषं भोगाः
नाशयन्ति। भोग-तृष्णा शक्तः दुर्बुद्धिः पुरुषः परपुरुषवत् निजमपि
विनाशयति। यथा—

हनन्ति भोगा दुम्मेधं नो चे पारगवेसिनो।
भोगतण्हाय दुम्मेधो हन्ति अज्जो व अत्तनं॥

— धम्मपद, २४/२२

३.८.२ समणसुत्ते तृष्णा

यथा बलाका अण्डादुत्पद्यते तथैव तृष्णा मोहादुत्पद्यते मोहश्च
तृष्णाया उत्पद्यते। यथा—

जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयति॥

— समणसुत्तं, १/९/१८

मोहरहितः दुःखं नाशयति। तृष्णारहितः मोहं नाशयति। लोभरहितः
तृष्णाम् नाशयति। अकिंचनश्च लोभम् नाशयति। यथा—

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

— समणसुत्तं, १/९/२९

यथा यथा लाभो वर्धते तथा तथा लोभो वर्धते द्विभाषक-परिमाणवता
स्वर्णेन निष्पाद्यं कार्यं कोटि-स्वर्णमुद्राभिरपि न पूर्यते। यथा—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकायं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठयं॥

— समणसुत्तं, १/९/१६

यदि कैलास-परिमाणाः स्वर्णरजतयोः असंख्याः पर्वताः भवेयुः
तथापि लोभवतः पुरुषस्य अल्पापि तृप्तिर्न भवति यतः इच्छाः
आकाशवत् अनन्ताः सन्ति। यथा—

सुवण्णरूपस्स उपव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंख्या।
नरस्सलुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससभा अणन्तिया॥

— समणसुत्तं, १/९/१७

सर्वविध-द्रव्य-सम्बन्धितम् मोहं परित्यज्य यः त्रिविधेन
(संसार-देह-भोग-सम्बन्धितेन) निर्वेदेन (वैराग्येण) स्वात्मानं भावयति
सः त्यागधर्मी भवति—एवं जिनेन्द्रदेवः प्राह। यथा—

णिव्वेदतियं भावइ, मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो, इति भणिदं जिणवरिंदेहिं॥

— समणसुत्तं, १/९/२२

यः कान्तेषु प्रियभोगेषु उपलब्धीष्वपि तेभ्यो विमुखो भवति।

स्वतंत्रतया च भोगानां त्यागं करोति स एव त्यागी कथ्यते। यथा—

ते य कते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठकुव्वइ।
साहीणो चयइ भोए, सं हु चाइत्ति वुच्चई॥

—समणसुत्तं, १/९/२३

यो मुनिः सर्वविध-परिग्रहत्यागं कृत्वा निःसंगो भवति स्व-सुखद-दुःखद-भावयोः निग्रतं कृत्वा निर्द्वन्द्वो विचरति स आकिंचन्य धर्मवान् भवति। यथा—

होऊण य णिस्संगो, णियभावं णिग्गहितु सुहदुहदं।
णिछंदेण दु वट्टदि, अणयारो तस्साऽऽकिचण्णं॥

—समणसुत्तं, १/९/२४

तृष्णायाः बहु-विपाकस्य वर्णनं अतिसुन्दररीत्या कृतमस्ति। विषय-वृक्षैः प्रज्वलितः कामाग्निः (तृष्णा) त्रैलोक्य-रूपिणीम् अटवीम् भस्मसात् करोति। यौवन-रूपिणि तृण-समूहे संचरणे कुशलः कामाग्निः यं महात्मानं न दहति सः धन्योऽस्ति। यथा—

तेल्लोक्काडविडहणो, कामाग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ।
जीव्वणतणिल्लचारी, जं ण उहइ सो हवइ धण्णो॥

—समणसुत्तं, १/९/३५

सर्वविध-दुःखानां मूलकारणं तृष्णा अस्ति। काम सेवनस्य तीव्र-लालसायाः त्यागः कर्तव्यः। यथा—

इत्तरियपरिग्गहिया-डपरिग्गहियागमणा-णंगकीडं च।
पटविवाहक्करणं, कामे तिक्वाभिलासं च॥

—समणसुत्तं, २/२३/१४

अपरिमितः परिग्रहः अनन्त-तृष्णायाः कारणमस्ति। सः अतिदोषयुक्तोऽस्ति नारकाग्नेः च मार्गोऽस्ति। अतः परिग्रह-परिमाणानुव्रती विशुद्ध-चित्तः श्रावकः क्षेत्र, गृह, स्वर्ण, रजत, धनधान्य, द्विपद, चतुष्पद भाण्डारादि परिग्रह अंगीकृतं परिमाणम् न अतिक्राम्येत्। यथा—

विरया परिग्गहाओ, अपरिमिआओ अणंततण्हाओ।
बहुदोससंकुलाओ, नरयगइगमण, पंथाओ।
खित्ताइ हिरण्याई धणाइ दुपयाइ-कुवियगस्स तहा।
सम्मं विसुद्धचित्तो, न पमाणाइक्कमं कुज्जा।।

—समणसुत्तं, २/२३/१५, १६

३.८.३ धम्मपद-समणसुत्तयोः तृष्णायाः तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् तृष्णा सांसारिक नरान् तथैव वशीकरोति यथा लूता निजनिर्मिते तन्तुजाले स्वयमेव वध्यते।

बुद्धेन प्रोक्तम् यत् तृष्णायाः विनाशे सति सर्वाणि बन्धनानि स्वयमेव नश्यन्ति।

तृष्णा दुष्पूरा अस्ति यदि स्वर्णमुद्राणामपि वर्षा स्यात् तथापि तृष्णातो न तृप्यति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १४/८)।

समणसुत्तेऽपि इदमेव कथितम् यत् सांसारिक-पदार्थेषु तृष्णा-पूर्वैः सामर्थ्यं नास्ति। यथाग्निज्वाला धृत-निक्षेपणात् शान्ता न भवति प्रत्युत तीव्रा भवति तथैव सांसारिक पदार्थैः तृष्णापि न शाम्यति प्रत्युत वर्धते। यथा-यथा लाभो वर्धते तथा-तथा लोभोऽपि वर्धते। लाभाल्लोभः प्रवर्धते। मापक-द्वय-परिमाणवता स्वर्णेन निष्पाधं कार्यम् कोटि-स्वर्णमुद्राभिः अपि न पूर्यते। अस्मात् तृष्णायाः हास-वृद्धी निरन्तरम् भवति। (द्रष्टव्य—समणसुत्त, १/९/१६)।

यस्य तृष्णा नश्यति तस्य मोहो नश्यति दुःखान्यपि न समाप्यन्ते। दुःखानां मूलकारणम् तृष्णास्ति। निर्लोभः तृष्णाम् विनाशयति। (द्रष्टव्य—समणसुत्त, १/९/२९)।

धम्मपदेऽपि भगवता बुद्धेन प्रोक्तम् यत् तृष्णैव दुःखानां कारणमस्ति। यमेषा तृष्णा गृह्णाति तस्य दुःखानि तथैव वर्धन्ते यथा क्षेत्रे वीरण-तृण-राशिः वर्धते। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २४/५)।

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् तृष्णात्तता नराः पाश-बद्ध-शशकवत् इतस्ततो भ्रमन्ति। भवसागरस्य पारं गन्तुमिच्छुकः नरः सम्मुखस्थां पृष्ठस्थां मध्यस्थां च तृष्णां त्यजेत्। यदि ते मनः विषयेभ्यः सर्वथा मुक्तमस्ति तर्हि त्वं जन्म-मरण-चक्रे न प्रवेक्ष्यसि।

समण सुत्तेऽपि उदमेव प्रोक्तम् यत् तृष्णा युक्तः प्राणी शान्तिं प्राप्तुं शक्नोति यतः सर्वविध-दुःखानां मूलकारणं तृष्णास्ति अतः तृष्णायाः त्यागः कर्तव्यः।

एवं यदा द्वयोरपि ग्रन्थयोः समानता-दृष्ट्या तुलना क्रियते तदा प्रतीयते यत् अस्मिन् संसारे दुःखानां मूलकारणं तृष्णास्ति यस्यापरं नाम आसक्तिरस्ति। तृष्णा-कारणादेव जनो दुःख-मग्नोऽस्ति। इयं तृष्णा समस्त पापानां जननी अस्ति। यः नरः एतस्याः तृष्णायाः रहितो भवति सः शोक मग्नो न भवति।

३.९.० कषायः

कषायशब्दः जैन-धर्मस्य पारिभाषिक शब्दोऽस्ति। 'कृषः' आयुः इति एतयोः द्वयोः शब्दयोः संयोगात् अयं निष्पन्नो भवति। 'कृष' शब्दस्य अर्थः संसारोऽस्ति 'आय' शब्दस्य चार्थः आगमनम् (जन्म-मरणम्) अस्ति। येन प्राणी कर्म-बन्धनैर्बध्यते अथवा येन जीवः पुनः पुनः जन्म-मरण-चक्रे निपतति सः कषायः कथ्यते। (द्रष्टव्यः—अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड-३, पृष्ठ ३९५)।

याः मनोवृत्तयः आत्मानं कलुषितं कुर्वन्ति ताः जैन-मनोविज्ञान-भाषायाम् कषाय शब्देन प्रोच्यन्ते। कषायाः अनैतिक-मनोवृत्तयः प्रोच्यन्ते।

धम्मपदे कषाय-शब्दस्य प्रयोगः द्वयोः अर्थयोः कृतः। एकः दूषित-चित्त-वृत्त्यर्थे, अपरः सन्यस्त-जीवन-प्रतीकानां कषाय-वर्ण-वरआणाम् अर्थे। (द्रष्टव्यः—बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ २०१)।

सम्पूर्णः संसारः वासनायाः उत्पन्ने कषायाग्नौ दहति। अतः

शान्ति-मार्ग-कर्णधारस्य साधकस्य वृत्ते कषायस्य त्यागः परमावश्यकोऽस्ति।

कपायाणां परित्यागात् अयं जीवात्मा वीतरागतां लभते सति तस्मै सुख-दुःखयोः भेद-भाव-प्रतीतिर्न भवति अर्थात् सुख-प्राप्तौ सति तस्य हृदये हर्षो नोत्पद्यते दुःखे च कथं विधमपि उद्वेगो नोत्पद्यते। किन्तु सः समानबुद्ध्या सुख-दुःखयोः आदरम् करोति। तात्पर्यमिदमस्ति यत् तस्य आत्मनि समभावस्य परिणतिः भवति। समभाव-भावितत्वमेव कषाय-त्याग-फलमस्ति। (द्रष्टव्यः— बौद्ध तथा जैन धर्म, डॉ० महेन्द्रनाथ सिंह, पृष्ठ २९)।

प्राणिमात्रं प्रति समभावस्य अभावः रागद्वेष-भावो वा कषायः कथ्यते। अस्यैव समभावस्य अभावात् राग-द्वेषो दयाच्च क्रोधः, मानम्, माया, लोभः इत्यादयो मनोभावाः अविकषायाः कथ्यन्ते। (द्रष्टव्यः— बौद्ध तथा जैन धर्म, डॉ० महेन्द्रनाथ सिंह, पृष्ठ २०३)।

जैन-ग्रन्थेषु चत्वारः प्रमुखाः कषायाः धूर्त-चतुष्क (चण्डाल-चौकड़ी) नाम्ना कथिताः सन्ति। ते चत्वारः कषायाः एते सन्ति। (द्रष्टव्यः— कर्मग्रन्थ, १/३५ तथा जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृष्ठ ५०१)।

(१) अनन्तानुबन्धी कषायः,

(२) अप्रत्याख्यानानावरण कषायः,

(३) प्रत्याख्यानानावरण-कषायः,

(४) संज्ज्वलन-कषायः।

(१) अनन्तानुबन्धी कषायः—यस्य कषायस्य प्रभावाज्जीवः अनन्त-काल-पर्यन्तं भवे भ्रमति सः अनन्तानुबन्धी कषायः कथ्यते।

(२) अप्रत्याख्यानानावरण-कषायः—यस्य कषायस्य उदयात् देश-विरति-रूपं प्रत्याख्यानं न प्राप्यते सः अप्रत्याख्यानानावरण-कषायः कथ्यते।

(३) प्रत्याख्यानावरण-कषायः—यस्य कषायस्य उदयात् सर्व-
विरति-रूपं प्रत्याख्यानम् न प्राप्यते सः प्रत्याख्यानावरण कषायः कथ्यते।

(४) संज्ज्वलन-कषायः—यस्य कषायस्य उदयात् साधकः
अल्पसमयावधिकालम् अभिभूतो भवति सः संज्ज्वलन-कषायः
कथ्यते। (द्रष्टव्यः—जैन तथा बौद्ध धर्म, पृष्ठ २०४)।

३.९.१ धम्मपदे कषाय वर्णनम्

तथागतः कथयति—“योजनः रागद्वेषादि कषाय परित्यागम्
अकृत्वा कषाय वस्त्राणि धारयति (संन्यास-ग्रहणं करोति) सः संयमात्
यथार्थरूपेण पतितो जनः कषाय वस्त्रधारणस्य (संन्यास-मार्गस्य)
अधिकारी नास्ति। यथा—

अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदेहस्सति।

अपेतो दमसच्चेन न स कासावमरहति॥

यो च वन्तकसावस्स सीलेसु सुसमाहितो।

उपेतो दमसच्चेन स वे कासावमरहति॥

— धम्मपद, १/९/१०

बुद्धः कथयति—अक्रोधेन क्रोधम्, साधुतया असाधुम्, दानेन
कृपणतां सत्येन च असत्यम् जयेत्। यथा—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।

जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं॥

— धम्मपद, १७/३

क्रोधः, मानं, लोभः, माया एतैः चतुर्भिर्भावैर्युक्तो नरः सम्यग्दर्शन
प्राप्ति-योग्यो नास्ति।

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् ये जनाः स्वकर्तव्य-पालनम् अकृत्वा
अकर्तव्य-पालनं कुर्वन्ति ईदृशानां प्रबुद्ध-मलानां प्रमत्तानाम् आश्रवाः
(चित्तमलानि) वर्धन्ते। किन्तु सदैव कर्तव्य-परायणाः नराः अकर्तव्य-पालनं

न कुर्वन्ति। ईदृशानां स्मृतिमताम् बुद्धिमतां च चित्त-मलानि नश्यन्ति।
यथा—

यं हि किच्चं अपविद्धं अकिच्चं पन कयिरति।
उन्नट्ठानं पमत्तानं तेसं वड्ढन्ति आसवा॥
येसज्ज सुसमारद्धा निच्चं कायगतासति।
अकिच्चन्ते न सेवन्ति किच्चे सातच्चकारिणो।
सतानं सम्पजानानं अत्थं गच्छन्ति आसवा॥

— धम्मपद, २१/३, ४

बुद्धः कथयति—सः मं प्रति अपशब्द प्रयोगं कृतवान्, सः मां
पराजितवान्, सः स्तेय-कर्म अकरोत् ये जनाः इमाः भावनाः मनसि
धारयन्ति तेषां वैरं न शाक्यति। यथा—

अकोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये च तं उपनरहन्ति वेरं तेसं न सम्मति॥

— धम्मपद, १/३

ये एवं विधान् भावान् मनसि च धारयन्ति तेषां वैरं शाक्यति।
यथा—

अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनरहन्ति वेरं तेसूपसम्मति॥

— धम्मपद, १/४

प्रकृतेः अयं शाश्वत-नियमोऽस्ति यत् अस्मिन् नश्वर-संसारे
वैरेण वैराणि कदापि न शाम्यन्ति किन्तु प्रेमणैव शाम्यन्ति। यथा—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मोसनन्तनो॥

— धम्मपद, १/५

अतः क्रोधम् त्यजेत्, अभिमानम् त्यजेत्, समस्त-संयोजनानि
(बन्धनानि) त्रोटयेत्। यो नरो नामरूपासक्तो न भवति यो लोभं न

करोति, यः अकिञ्चनोऽस्ति तस्योपरि क्लेशानाम् आक्रमणं न भवति।

यः उत्थितक्रोधस्य तथैव निग्रहं करोति यथा सारथिः अश्वानां निग्रहं करोति सः एव नैतिक-जीवनस्य सुदृढः सारथिरस्ति अन्ये सर्वे जनाः केवलम् अश्व-बल्गा-धारिणः एव सर्वं सन्ति। यथा—

कोधं जहे विप्पजहेय्यमानं सय्योजनं सव्वमतिकमेय्य।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं अकिञ्चनं नानुपतन्तिदुक्खा॥
यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं व धारये।
तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

— धम्मपद, १७/१, २

३.९.२ समणसुत्ते कषाय वर्णनम्

कप शब्दस्य अर्थः संसारोऽस्ति, आय शब्दस्य च अर्थः आगमनमस्ति। येन जीवः पुनः पुनः जन्म-मरण-चक्रे निपतति सः कषायः प्रोच्यते। मिथ्यादृष्टिर्जीवः तीव्र-कषायेण पूर्णतया आविष्टो भूत्वा जीव-शरीरयोः ऐक्यं जानाति स बहिरात्मास्ति। यथा—

मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिक्वकसाएण सुट्ठ आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥

— समणसुत्तं, १/७/३

यः तत्त्व-विचारानुसारं न आचरति तस्मादधिकः मिथ्यादृष्टिः अन्यः को भवितुमर्हति। सः अन्यान् जनान् शंकाशीलान् विधाय स्वमिथ्यात्वं वर्धयति। यथा—

जो जहवायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हुको अन्ना।
वड्ढइ य मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो॥

— समणसुत्तं, १/७/४

कर्म-संस्कारात् राग-द्वेषौ, राम-द्वेषयोश्च कषायाः उत्पद्यन्ते। राग-द्वेषौ कर्म-बीजो स्तः। कर्म मोहादुत्पद्यते। कर्म जन्म-मरण-मूलमस्ति। दुःखं जन्म-मरण-मूलमुक्तम्। यथा—

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मं च मोहप्पभवं व यंति।
कम्मे च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥

—समणसुत्तं, १/८/११

शान्ति-प्रत्ये कर्मागमनद्वाराणाम् (आस्रवानाम्) इन्द्रियाणाम् च मनसा-वाचा-कर्मणा एभिः त्रिभिः करणैः तथा कृत-कारितानुमोदित-संज्ञैः त्रिभिर्योगैः निरोधः कर्तव्यः कषायांच विनाशः कर्तव्यः। यथा—

कम्मासवदावाइं, निरूभिंयव्वाइं इदिंयाइं च।

हंतव्वा य कसाया, तिविहं-तिविहं-तिविहेण मुक्खत्थ॥

—समणसुत्तं, १/८/१०

क्रोध-मान-लोभ-माया-संज्ञानाम् चतुर्णां कषायाणां परित्यागात् वीतरागतायाः प्राप्तिर्भवति।

भाव-विरक्तोनरः शोकमुक्तो भवति। यथा कमल-पत्रम् जल-लिप्तम् न भवति तथैव सः संसारस्थोऽपि विविध-दुःख-परम्परामिहलिप्तो न भवति। यथा—

भावे विस्तो मणुओ विसोगो, ए ए ण दुक्खो हपरंपरेण।

न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणी पलासं॥

—समणसुत्तं, १/८/११

क्रोध-मान-माया-लोभासक्तः साधकः अनन्त-काल-पर्यन्तम् संसारे परिभ्रमति सम्यग् दृष्टिर्न भवति। अतः एषां निग्रहः आवश्यकोऽस्ति। आत्मैव शत्रुरस्ति। कषायाः इन्द्रियाणि च शत्रवः सन्ति। तान् विजित्य यथान्याम् (धर्मानुसारम्) विचरेत्। यथा—

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।

ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी॥

—समणसुत्तं, १/१०/३

आत्म-विजेता एव इहलोके परलोके च सुखी भवति।

ज्ञानेन ध्यानेन तपोबलेन च इन्द्रियविषयाः कषायाश्च बलात्

रोद्धव्याः। यथा बलाया अश्वाः बलात् रोध्यन्ते। यथा—

नागेण य ज्ञाणेण य, तवोवलेण य बला निरूभति।
इंदियविसयकसाया, धरिया तुरगा व रज्जूहिं॥

—समणसुत्तं, १/१०/१०

महागुणिना मुनिना उपशानताः कषायाः जिनेश्वर-देववत् चरित्रवन्तं
मुनिमपि पातयन्ति तर्हि सरागाणां मुनीनां कथैव का? यथा—

अवसामं पुवणीता, गुणमहता जिणचरित्त सरिसं पि।
पडिवातेति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे॥

—समणसुत्तं, १/१०/११

यदा शान्त-कषायः पुरुषोऽपि अनन्त-प्रतिपातं प्राप्नोति तदा
अवशिष्टे अल्पमात्रे कषाये कथं विश्वासः कर्तव्यः। तस्मिन् विश्वासो
न कर्तव्यः। यथा—

इह उवसंतकसाओ, लह इ अणंतं पुणो विं पडिवायं।
न हु भे वीसयिव्वं, व्येवे वी कसायसेसम्मि॥

—समणसुत्तं, १/१०/१२

ऋणम् स्वल्पम्, व्रणम् लघु, अग्निम् अल्पम्, कषायंच स्वल्पं
मत्वा विश्वस्तो न भवेत् यतः एते स्वल्पा अपि सन्तः प्रभूता महानाश्च
भवन्ति। यथा—

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च।
न हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहु होइ॥

—समणसुत्तं, १/१०/१३

क्रोधः प्रीतिं हन्ति, मानम् विनयम् हन्ति, माया मैत्रीं हन्ति,
लोभश्च सर्वं हन्ति। यथा—

कोहो पीइं पणासेइ, माणे विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

—समणसुत्तं, १/१०/१४

क्षमया क्रोधो हन्यते, मार्दवेन मानं जीयते, आर्जवेन माया जीयते, सन्तोषेण च लोभो जीयते। यथा—

उवसमेण हणे कोहं माणं मछवया जिणे।

मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥

—समणसुत्तं, १/१०/१५

यो नरो देह-ममता-रहितोऽस्ति, यो मानादि-कषायैः पूर्णतया मुक्तोऽस्ति। तथा यः स्वात्मनि लीनोऽस्ति स एव साधुः भावलिङ्गी अस्ति। यथा—

देहादिसंगरहिओ, माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।

अप्पा अप्पम्मि रओ, स भावलिङ्गी हवे साहू॥

—समणसुत्तं, २/२४/२८

३.९.३ तुलनात्मकमध्ययनम्

धम्मपद-समणसुत्तयोः तुलनात्मके अध्ययने कृते ज्ञायते यत् कषायोपरि विजय-प्राप्तये क्रोध-मान-माया-लोभादिषु उपर्युक्तता भवेत्। अतः विवेक-बुद्ध्या कषाय-निग्रहः सम्भवो नास्ति। भाषण-समये एषां दोषाणां सम्पर्कस्य ज्ञानं पूर्णविवेकेन कर्तव्यम्। यतः एतेषामेव कारणात् असत्यम् भाष्यते अर्थात् क्रोधादिवशीभूतो भूत्वा सत्यप्रियोऽपरि नरः असत्यभाषण-तत्परो भवति। अतः कषायोपरि विजय-प्राप्तये एषां ध्यानं अवश्यं कर्तव्यम् उभयोरपि ग्रन्थयोः एवमुक्तम्। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १७/३; समणसुत्तं, १/१०/३)।

ज्ञानेन ध्यानेन तपोबलेन च इन्द्रियविषयाणां कषायाणां च बलात् निग्रहः उभयोरपि ग्रन्थयोः प्रोक्तम् यथा बलाया बलात् अश्वो निगृह्यते। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १७/२; समणसुत्तं, १/१०/१०)।

कषायाणां शान्तिकर्ता नरोऽपि अनन्त-प्रतिपातं प्राप्नोति। एवं तुलनात्मके अध्ययने कृते सति ज्ञायते यत् उभयोरपि ग्रन्थयोः समानता

अस्ति। वैयक्तिक जीवनदृष्ट्या सामाजिक-जीवन-दृष्ट्या च कषाय-जयः आवश्यकोऽस्ति।

क्रोधेन जीवो नीचगतिं याति, मानेन अधमगतिम् याति, मायया सद्गतिम् नाशयति, लोभेन च लोकपरलोकयोः भयः प्राप्यते। (द्रष्टव्यः-बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ २०५)।

३.१०.० क्रोधः

अयमेकः उत्तेजको मानसिक आवेगोऽस्ति। उत्तेजितो जनो भावाविष्टोभवति। तस्य विचार-क्षमता तर्कशक्तिश्च प्रायः शिथिला भवति। अतः स्वोपरि अपि क्रोधं न कुर्यात्। (द्रष्टव्यः-उत्तराध्ययन, १/४०)।

समभावं विस्मृत्य आक्रोशपूर्णता तथा परेषु रोषः एव क्रोधः कथ्यते। अतः क्रोधो न कर्तव्यः यतः क्रोध-विजयात् जीवः क्षमागुणं लभते क्षमया च क्रोधजन्य-काम-बन्धो न भवति पूर्वसंचित कर्मणां च विनाशो भवति। (द्रष्टव्यः-उत्तराध्ययन, २९/६८)। जैन-दार्शनिकैः आवेगस्य तीव्रतायाः मन्दतायाश्च आधारात् क्रोधः चतुर्षु वर्गेषु विभक्तोऽस्ति।

प्रथमविधस्य क्रोध तुलना पर्वतशिलायाः सन्धिना (रेखया) कृता या एकवारं कस्मैचित् समुत्पन्ना सति आजीवनं स्थिरा भवति कदापि न समाप्यते।

द्वितीयविधस्य क्रोधस्य तुलना भूमिजात-सन्धिना कृता यस्य पूर्तिः कठिना नास्ति।

तृतीयविधस्य क्रोधस्य तुलना धूलि-खचित-रेखया कृता या सहजतया समाप्यते।

चतुर्थविधस्य क्रोधस्य तुलना सलिल-खचित-रेखया कृता यस्याः समाप्तिः अतिसरला अस्ति। (द्रष्टव्यः-बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ २०६)।

प्रथमविधः क्रोधः तीव्रतमः द्वितीयविधः क्रोधः तीव्रतरः, तृतीयविधः क्रोधः केवलं क्रोधः, चतुर्थ विधश्च क्रोधः अल्पक्रोधः कथ्यते।

बौद्धदर्शने क्रोधवन्तः त्रिधा प्रोक्ताः—

प्रथमविधानां क्रोधिनां क्रोधः शिलाखचित-रेखावत् चिरस्थायी भवति।

द्वितीय विधानां क्रोधिनां क्रोधः भूमि-खचित-रेखावत् अल्पस्थायी भवति।

तृतीय-विधानां क्रोधिनां क्रोधः सलिल-खचित-रेखावत् अस्थायी भवति। एवं उभयोरपि ग्रन्थयोः दृष्टान्तसाम्य विशेषतया महत्वपूर्णमस्ति। (द्रष्टव्यः—जैन, बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ५०१)।

३.१०.१ धम्मपदे वर्णितः क्रोधः

क्रोधं त्यजेत्, अभिमानं त्यजेत्, सर्व विधैः संयोजनैः (बन्धनैः) पारं गच्छेत्, एवं विधम् नामरूपानासक्तम् परिग्रह-रहितं च नरं दुःखानि न सन्तापयन्ति। यथा—

क्रोधं जहे विप्पजहेत्य मानं सज्जोजनं सब्बमतिकमेय्य।
तं नामरूपस्मिं असज्जमानं अकिञ्चनं नानुपतन्ति दुक्खा॥

— धम्मपद, १७/१

स एव दृढः सारथिः अस्ति यः भ्रमन्तं रथमिव समारूढं क्रोधं जयेत् एतद्विपरीताः सारथयः केवलम् अवश्ववल्गाग्राहिण एव भवन्ति। यथा—

यो वे उप्पतितं क्रोधं रथं भन्त'व धारये।
तमहं सारथिं बूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

— धम्मपद, १७/२

अक्रोधेन क्रोधं जयेत्, साधुना असाधु जयेत्, दानेन कृपणं जयेत्, सत्येन च असत्यवादिनं जयेत्। यथा—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिन कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं॥

— धम्मपद, १७/३

सत्यं वदेत्, क्रोधं न कुर्यात्, अल्पे अपि याचिते दधात् एभिरिअभिर्गुणैः पुरुषः देवलोकं गच्छति। यथा—

सच्चं भणे न कुज्झेय्य दज्जाप्पस्मिम्पि याचितो।
एतेहि तीहि ठानेहि गच्छे देवान सन्तिके॥

— धम्मपद, १७/४

३.१०.२ समणसुत्ते क्रोधः

क्रोध-भयादि वशीभूतो भूत्वा जनः न स्वस्मै न परस्मै हिंसात्मकानि असत्यवचनानि ब्रूयात् न कंचित् प्रेरयेत्। इदं सत्यव्रतमस्ति। यथा—

अपणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥

— समणसुत्तं, २/२५/६

देवैः नरैः तिर्यग्भिः (पशुभिः) पुधोरोपसर्ग-प्राप्तावपि यः क्रोधतप्तो न भवति सः निम्रल-क्षमाधर्मवानस्ति। यथा—

कोहेण जो ण तप्पदि, सुर-णर-तिरिएहि की रमाणे वि।
उवसग्गे वि रउछे, तस्स खमा णिम्मला होदि॥

— समणसुत्तं, १/९/४

क्रोधं प्रीतिं विनाशयति, मानम् विनयम् विनाशयति, माया मैत्रीं विनाशयति, लोभश्च सर्वमेव विनाशयति। यथा—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविगणासणो॥

— समणसुत्तं, १/१०/१४

क्षमया क्रोधं जयेत्, मार्दवेन मानं जयेत्, आर्जवेन मायां जयेत्,
सन्तोषेण च लोभं जयेत्। यथा—

असमेण हणे कोहं, माणं मछवया जिणे।
मायं चडज्जवभावेण, लोभं संतोसओजिणे॥

— समणसुत्तं, १/१०/१५

३.१०.३ तुलनात्मकमध्ययनम्

धम्मपद-समणसुत्तयोः अध्ययनात् ज्ञायते यत् क्रोध-भयादि-
वशीभूतोनरः कथंविधमपि असत्यवचनं न स्वयं वदेत्, न असत्य
भाषणाय परं प्रेरयेत्। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १७/१; समणसुत्तं, २/२५/६)।
क्रोधं अक्रोधेन जयेत् एष एव उपदेशः उभयोः अपि ग्रन्थयोः प्राप्यते।

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् अक्रोधेन क्रोधं जयेत्, समणसुत्ते च क्रोधं
क्षमया हन्ति इत्युक्तम्। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १७/३; समणसुत्तं,
१/१०/१५)।

एवं उभयोरपि ग्रन्थयोः समानता दृश्यते।

३.११.० पंच महाव्रतः

बौद्धपरम्परायाम् भिक्षुशीलानि दश प्रोक्तानि जैन परम्परायाम् च
पंचमहाव्रतानि स्वीकृतानि उभयोः साम्यमस्ति।

बौद्धधर्मस्य दश भिक्षु-शीलानि एतानि सन्ति—

- (१) प्राणातिपात-विरमणक् (जीवहिंसा-विरतिः)
- (२) अदत्तादान-विरमणम् (अचौर्यम्)
- (३) अब्रह्मणचर्यम्
- (४) मृषावादः (असत्यभाषणम्)

- (५) सुरा-मैरेय-मद्य-विरमणम् (मादक-द्रव्य-परित्यागः)
- (६) विकाल-भोजन-विरमणम्
- (७) नृत्य-गीत-वादिभ-विरमणम्
- (८) माल्यधारण-गन्धविलेपन-विरमणम्
- (९) उच्चशय्या-महाशय्या-विरमणम्
- (१०) जातरूप-रजत-ग्रहण-विरमणम्

एतेषु पूर्वोक्तानि षड्शीलानि (पंचमहाव्रतानि, रात्रिभोजन-परित्यागश्च) जैन परम्परायामपि स्वीकृतानि। शेषाणि चत्वारि भिक्षुशीलान्यपि जैन-परम्परायाम् स्वीकृतानि किन्तु महाव्रत-रूपेण एषामुल्लेखो नास्ति। जैनपरम्परा अपि भिक्षोः कृते मद्यपानस्य, माल्य-धारणस्य, गन्ध-विलेपनस्य, नृत्यगीतवादित्रादीनाम् उच्चशय्या-रोहणस्य च निषेधम् करोति। (द्रष्टव्यः— जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ ३४३)।

बौद्ध-परम्परायाम् भिक्षुकृते मानसिक-वाचिक-कायिकायाः कृतकारितानुमोदितायाश्च हिंसायाः निषेधोऽस्ति। (द्रष्टव्यः— सुत्तनिपात, ३७/२७)।

सदाचारः बौद्धधर्मस्य आधारशिला अस्ति। बौद्धधर्मे सदाचारः शीलम् कथ्यते। शीलस्य पालनं बौद्धेभ्यः आवश्यकमस्ति। यः शीलपालनं न करोति सः बौद्धपदाधिकारी न भवितुमर्हति। शीलेन मनोवाक्-छरीराणि शुध्यन्ति। सद्गुणानाम् शीलनात् (धारणात्) एवतानि शीलानि प्रोच्यन्ते। (द्रष्टव्यः— बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १५२)।

बौद्धानाम् पंचशील-समकक्षानि जैनधर्मस्य पंचमहाव्रतानि सन्ति। (द्रष्टव्यः— भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १५६)। वस्तुतः पंचमहाव्रतानि सम्पूर्णस्य श्रमणाचारस्य आधारशिलाः सन्ति। पंच महाव्रतान्येव श्रमणाचारस्य तानि केन्द्रविन्दूनि सन्ति यतः अनेकाः

त्रिज्याः विभिन्ननियमोपनियमरूपेण प्रसारिताः सन्ति। श्रमणः आजीवनम् मनसा वाचा कर्मणा पंचमहाव्रतानि धारयति।

३.११.१ धम्मपदे वर्णितानि पंच-शीलानि

यदा कश्चिज्जनः बौद्धधर्मं स्वीकरोति तदा तेन बुद्धस्य धर्मस्य संघस्य च शरणग्रहण-प्रतिज्ञया सह पंचशील-पालनस्य अपि प्रतिज्ञा गृह्यते। पंचशीलानि सदाचारस्य पंच सार्वभौम-नियमाः सन्ति। तानि इमानि सन्ति। यथा—

यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति।

लोके अदिन्नं आदियति परदारं च गच्छति॥

सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुञ्जति।

इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तनो॥

— धम्मपद, १८/१२, १३

(१) प्राणातिपात (जीवहिंसा)-विरतिः।

(२) मृषावाद (असत्य-भाषण)-विरतिः।

(३) अदत्तादान (चौर्य) विरतिः।

(४) परस्त्री-गमन-विरतिः।

(५) सुरा-मैरेय (मद्यपान) विरतिः।

(१) प्राणातिपात-विरमणम्—ब्राह्मणस्य कृते इदं अतिकल्याण-करम् अस्ति यत् सः प्रियात् मनः परावर्तयति। यत्र यत्र मनः हिंसायाः परावर्तते तत्र तत्र दुःखं शाम्यति। यथा—

न ब्राह्मणस्सेतद किञ्चि सेयो यदा निसेधो मनसो पियेहि।

यतो यतो हिंसमनो निवर्तति ततो ततो सम्पति एव दुक्खं॥

— धम्मपद, २६/८

प्राणिनां हिंसा न कर्तव्या एवंकृते एव जनः सुखी भवति। यथा—
 सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
 अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥

— धम्मपद, १०/३

(२) मृषावाद-विरतिः—असत्यवादिनो नराः नरकं यान्ति।

यथा—

अभूतवादी निरयं उपेति यो चापि कत्वा “न करोमीति” चाह।
 उभोपि ते पेच्च समा भवन्ति निहीनकम्मा मनुजा परत्थ॥

— धम्मपद, २२/१

एवं भगवता बुद्धेन धम्मपदे प्रोक्तम्। कटुवचनमपि न वक्तव्यम्।

यथा—

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति।
 अत्तनो सुखमे सानो पेच्च सो लभते सुखं॥

— धम्मपद, १०/४

यः अपीडाकाराणि अकर्कशानि, सार्थकानि, सत्यानि च वचनानि
 वदति सः ब्राह्मणः कथ्यते। यथा—

अकक्कसं विज्जयनिं गिरं सच्चं उदीरये।
 याय नाभिसजे किञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२६

(३) अदत्तादान-विरतिः—भिक्षुणा स्वामिनः अनुमतिं विना
 किंचदपि वस्तु न ग्राह्यम्। यथा—

सलाभं नातिमज्जेय्य नाज्जेसं विहयं चरे।
 अज्जेसं पिहयं भिक्खू समाधिं नाधिगच्छति॥

— धम्मपद, २५/६

इदमेव अचौर्यम् इति कथ्यते।

यः स्वामिना अदत्तं दीर्घं ह्रस्वं, स्थूलम्, सूक्ष्मम्, शुभम्, अशुभम्
वा किञ्चित् सांसारिक वस्तुन गृह्णाति सः ब्राह्मणः कथ्यते। यथा—

योध दीर्घं व रस्सं वा अणु थूलं सुलासुभं।
लोके अदिन्नं नादियते तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२७

(४) अब्रह्मचर्यम्—परस्त्री गमनं न कर्तव्यम्। धम्मपदे प्रोक्तम्
यत् प्रमादिनः परस्त्री गामिनः नरस्य चतस्रः गतयः सन्ति—(१)
अपुण्यलाभः, (२) दुःखेन निद्रा, (३) लोक निन्दा, (४) नरक प्राप्तिः।

अपुण्यलाभः, दुर्गतिः, भयभीतस्य भय भीतेन सह अत्यन्तारतिः,
राजदण्डश्च प्रतयते अतः नरेण परस्त्रीगमनं न कर्तव्यम्। यथा—

चत्तारि ठानानि नरो पमत्तो आपज्जती परदारूपसेवी।
अपुञ्जलाभं न निकामसेय्यं निन्दं ततियनिरयं चतुत्थं॥
अपुञ्जलाभो च गती च पापिका
भीतस्स भीताय रती च थोकिका।
राजा च दण्डं गरुक्कं पणोति तस्मा नरो परदारं न सेवे॥

— धम्मपद, २२/४, ५

(५) सुरा-मैरेय-मद्य-विरमणम्—बौद्धभिक्षवे गृहस्थाय च
सुरापानम्, मद्यपानम्, मादक वस्तु सेवनं च वर्जितमस्ति। (द्रष्टव्यः—
धम्मपद, १८/१२, १३) ।

धम्मपदे कथितमस्ति यत् नरः कायिकदुराचरणात् विरमेत, कायेन
सैयतः स्यात्, कायिक-सदाचरणस्य पालनम् कुर्यात्। यथा—

कायप्पकोपं रक्खेय्य कायेन संवुतो सिया।
कायदुच्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरे॥

— धम्मपद, १७/११

(६) विकाल-भोजन-विरमण्याम्—भिक्षूणां कृते विकाल
भोजनं रात्रिभोजनं च वर्जितमस्ति। रात्रिभोजन-त्यागात् शारीरिकव्याधिः

नश्यति, शरीरबलम् वर्धते, चित्त-शान्तिः प्राप्यते। सामान्यतया बौद्धे-भिक्षुकृते एककालिक भोजनस्य विधानमस्ति।

(७) नृत्य-गीत-वादित्र-विरमणम्-नृत्यगाने वाद्यवादनम् च बौद्धभिक्षुकृते वर्जितमस्ति। जैन-परम्परायामपि वर्जितमस्ति।

(८) माल्यगन्ध-धारण विलेपन-विरमणम्-गृहस्थकृते भिक्षुकृते च माल्यादिधारणम् सुगन्धित-पदार्थ-विलेपनम् शरीर-शृंगारः, आभूषण-धारणम् च वर्जितमस्ति। जैन-परम्परायामपि वर्जितमस्ति।

(९) उच्चशय्या-महाशय्या-विरमणम्-उभयोः अपि परम्परयोः काष्ठफलकस्य भूमेः कुशानाम् पत्राणाम् वा शय्यायाः विधानमस्ति। उपधानादियुक्तासु शय्यासु शयनं वर्जितमस्ति।

(१०) जातरूप-रजत-विरमणम्-बौद्धभिक्षुकृते अपि परिग्रहो वर्जितोऽस्ति। मुनिः परिग्रहे लिप्तो न स्यात् यतः यो जनः कृषि-वास्तु-स्वर्ण-रजत-रावाश्वदासादीनाम् अनेक पदार्थानाम् लालसां करोति स वासनाकुलो भवति। बाधाश्च तं मर्दयन्ति। तदा सः जलमग्ननौकावत् दुःखाकुलो भवति। यः कामनाभिः वशीकृतः तस्य मुक्ति कठिनास्ति। वस्त्रपात्रादीनामावश्यकता अपि सीमातीतमात्रायाम् वर्जिताः सन्ति।

३.११.२ समणसुत्ते वर्णितानि पञ्च-महाव्रतानि

(१) सर्वविध-प्राणातिपात-विरमणम् (अहिंसा)

(२) सर्वविध-मृषावाद-विरमणम् (सत्यम्)

(३) सर्वविद्यादत्तादान-विरमणम् (अस्तेयम्)

(४) सर्वविध-यौन-सम्बन्ध-विरमणम् (ब्रह्मचर्यम्)

(५) सर्वविध-धनादि-संग्रह-विरमणम् (अपरिग्रहः)

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रह संज्ञान् पञ्च महाव्रतान् स्वीकृत्य विद्वान् मुनिः जिनोपदिष्ट धर्मस्य आचरणम् कुर्यात्। यथा—

अहिंसा सच्चं च अतेणगं च, ततो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जियापंच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ।।

— समणसुत्तं, २/२५/१

निःशल्य-व्रतिनः एव इमानि सर्वानि महाव्रतानि भवन्ति। यतः
निदानं, मिथ्यात्वं, माया एभिः त्रिभिः शल्यैः व्रतानाम् घातो भवति।
यथा—

णिस्सल्लस्सेव पुणो, महव्वदाइं हवांति सव्वाइं।
वदमुवहम्मदि तीहि दु, णिदाणमिच्छत्तमायाहि।।

— समणसुत्तं, २/२५/२

(१) अहिंसा—कुलम्, योनिः, जीवस्थानम्, मार्गण-स्थानम्
इत्यादिषु जीवान् परिज्ञाय तत्सम्बन्धितारम्भान्निवृत्तिरूपः परिणामः
प्रथमम् अहिंसा व्रतम् अस्ति। यथा—

कुलजोणिजीवमग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभणियत्रण, परिणामो होइ पढमवदं।।

— समणसुत्तं, २/२५/४

अहिंसा सर्वेषाम् आश्रमाणाम् हृदयम्, सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यं तथा
सर्वेषां व्रतानां, सर्वेषां गुणानां च पिण्डभूतसाखेऽस्ति। यथा—

सव्वेसिमासमाणं, हिदयं गब्भो व सव्वसत्थाणं।
सव्वेसिं वदगुणाणं, पिंडो सारो अहिंसा हु।।

— समणसुत्तं, २/२५/५

(२) सत्यम्—स्वयं निजकृते परकृते वा क्रोध-भयादि वशीभूतो
भूत्वा हिंसात्मकानि असत्य-वचनानि स्वयं न वेदत् नान्यान् असत्यवादानां
प्रेरयेत्। इदं द्वितीयं सत्यव्रतमस्ति। यथा—

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं बयावए।।

— समणसुत्तं, २/२५/६

(३) अस्तेयम् (अचौर्यम्)—ग्रामे, नगरे, अरण्ये वा परकीयं वस्तुं दृष्ट्वा तद्-ग्रहणाभिलाष-त्यागः साधोः तृतीयम् अचौर्यव्रतमस्ति। यथा—

ग्रामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव॥

—समणसुत्तं, २/२५/७

सचेतनम्, अचेतनम्, अल्पम्, बहु वा वस्तु दन्त निष्कोणक-शलाकामपि साधवः अदत्तम् न गृह्णन्ति। यथा—

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि, ओग्गहंसि अजाइया॥

—समणसुत्तं, २/२५/८

(४) ब्रह्मचर्यम्—मैथुन-संसर्गः अधर्मस्य मूलमस्ति। महतां दोषाणां समूहोऽस्ति। अतएव ब्रह्मचर्य-व्रती निर्गन्ध-साधुः सर्वथा मैथुन-सेवनस्य त्यागं कुर्वन्ति। यथा—

मूलमेअहमम्मस्स, महादोसमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं, निग्गंथा वज्जयति णं॥

—समणसुत्तं, २/२५/१०

वृद्धां, बालिकां, तरुणीं वा स्त्रियं दृष्ट्वा ताः मातृवत् पुत्रीवत् भगिनीवच्च मत्वा स्त्री-कथा-निवृत्तिः चतुर्थं ब्रह्मचर्य-व्रतमस्ति। इदं ब्रह्मचर्यव्रतम् त्रिलोक-पूज्यमस्ति। यथा—

मादुसुदाभगिणी विय, दट्ठूणित्थित्थियं य पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियत्ती, तिलोयपुज्जं हवे बभं॥

—समणसुत्तं, २/२५/११

(५) अपरिग्रहः—निरपेक्ष भावनया चारित्रभार-बोद्धुः साधोः बाह्यस्याभ्यन्तरस्य च सर्वस्य परिग्रहस्य त्यागः परिग्रह-त्याग-नामकम् पंचमम् महाव्रतम् कथ्यते। यथा—

सव्वेसिं गंथाणं, तागो णिखेक्खभावणापुव्वं।

पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स॥

— समणसुत्तं, २/२५/१२

यदा भगवता अर्हन्तदेवेन मोक्षाभिलाषिणः कृते शरीरमपि परिग्रहोऽस्ति इत्युक्त्वा देहस्य उपेक्षायाः उपदेशः प्रदत्त तदा अन्य परिग्रहाणाम् कथैव का? यथा—

किं किंचणत्ति तक्कं, अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।

संगं ति जिणवरिदं, णिप्पडिकम्मत्तमुछिट्ठां॥

— समणसुत्तं, २/२५/१३

३.११.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपदे समणसुत्ते च उभयोः अपि ग्रन्थयोः मानसिक-वाचिक-कायिक-कृत-कारितानुमोदित-कोटिषु विधानं भवति इमानि महाव्रतानि पंचसंख्याकानि सन्ति।

धम्मपदे प्रोक्तमस्ति यत् मनुष्य-पशु-पक्षिणाम् उद्भिज्ज जीवानां प्राणोपेतानाम् वध एव प्राणवधः कथ्यते। यतो यतो मनः हिंसायाः परावर्तते ततस्ततो दुःखानां शान्तिरवश्यं भवति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २६/८)।

समणसुत्तेऽपि प्रोक्तम् यत् मनसा वचसा कायेन वा कथमपि जीवानाम् दुःखी करणम् अहिंसा-महाव्रतमस्ति। अज्ञातावस्थायाम् कृता हिंसा अपि घातिकास्ति।

अहिंसाव्रते क्षमाभावः, सदा विश्वमैत्री, विश्व-कल्याण-भावना अक्रोधः एते सर्वे भावाः सन्ति। अहिंसा सर्वेषां शास्त्राणां रहस्यं तथा सर्वेषां व्रतानां गुणानां च पिण्डभूतसारः अस्ति। (द्रष्टव्यः— समणसुत्तं, २/२५/४)।

समणसुत्ते न केवलं कृत-कारितानुमोदित-हिंसाया निवृत्तिसक्ता अपितु औद्देशिकहिंसाया निवृत्तिरप्युक्ता अस्मिन् भिक्षुभ्यः मनसा,

वचसा कायेन वा हिंसाकरणम् हिंसा-करण-प्रेरणम्, हिंसानुमोदनम् इत्यादीनां तु निषेधः अस्त्येव किन्तु यदि कश्चित् भिक्षुः निमित्तं हिंसां करोति भिक्षुणा इदं ज्ञायते यत् तन्निमित्तं हिंसाकृता तदा ईदृशस्य आहारादेः ग्रहणम् अपि भिक्षुकृते निषिद्धमस्ति। उभयोः एतादेवान्तरमस्ति यत् बुद्धः निमंत्रित भिक्षाम् स्वीचकार। समणसुत्ते भिक्षवः कथंविधमपि आमन्त्रणं न स्वीकुर्वन्ति स्म। धम्मपदे भिक्षूणाम् असत्य भाषणम् वर्जितम् अस्ति। भिक्षुः मिथ्याभाषणं न कुर्यात्। कस्यचित् पैशुन्यं न कुर्यात्, कपटपूर्णं वचनं न ब्रूयात्। भिक्षुः सदैव कठोरवचनं परित्यज्य मधुर-भाषणम् कुर्यात्। यथा—

यथापि रुचिरं पुष्पं वण्णवन्तं सगन्धकं।

एवं सुभाषिता वाचा सफला होति कुब्बतो॥

— धम्मपद, ४/९

समणसुत्ते अपि असत्य-भाषण-त्यागः श्रमणेभ्यः आवश्यकः प्रोक्तः। मनसा, वचसा, कायेन च सत्यारूढः स्यात्। निजकृत परकृतो वा क्रोध-भयादि वशीभूतो भूत्वा हिंसात्मकम् असत्यवचनं स्वयं न ब्रूयात् परांश्चापि न प्रेरयेत्। (द्रष्टव्यः— समणसुत्त, २/२५/५)। एवम् धम्मपदे समणसुत्ते च उभयोरपि ग्रन्थयोः मनसा, वचसा, कायेन वा असत्यभाषणम् वर्जितं प्रोक्तम्।

बुद्धेन प्रोक्तम् यत् यद् वचनम् सत्यम् भवेत् तत् प्रियं अप्रियं वा भवेत् हितकर-दृष्ट्या वक्तव्यम् किन्तु समणसुत्ते महावीरेण अप्रियसत्यम् हितकर दृष्ट्या भाषणम् वर्जितम् प्रोक्तम्। एतदेव उभयोः अन्तरमस्ति। शेषं सर्वं समानमेवास्ति।

धम्मपदे प्रोक्तम् यत् यो जनः कामाचराद् विरतो भवति स देवलोकं प्राप्नोति। भिक्षुणाम् भिक्षुणीनां च केचिन्नियमाः सन्ति येषां पालनम् आवश्यकमस्ति। कामभोगः दुःखप्रदः प्रोक्तः। कामेभ्यः तृप्तिर्न भवितुमर्हति। परस्त्रीगमनं न कर्तव्यम्। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २२/४, ५)।

समणसुते प्रोक्तम् यत् मनुष्यः तिर्यग्देवशरीर-सम्बन्धिनां सर्वेषां मैथुनानां सेवनं मनसा वचसा कायेन च परित्यज्येत्। ब्रह्मचर्यं महाव्रतमस्ति। यः ब्रह्मचर्यव्रतस्य पालनं करोति तं देवाः दानवाः यक्षादयः सर्वेऽपि नमस्कुर्वन्ति। एवम् उभयोः अपि ग्रन्थयोः ब्रह्मचर्य-व्रत-पालनस्य प्रधानता वर्णिता उभयोरपि साम्यमस्ति।

धम्मपदे प्रोक्तम् भिक्षुः स्वामिना अप्रदत्तं किमपि वस्तु न गृहणीयात्। बौद्धभिक्षु निजानां आवश्यकतानां पूर्तिं भिक्षा वृत्त्यैव कुर्यात्। वनेऽपि अदत्तं वस्तुं न गृहणीयात्। परलाभ कामनां न कुर्यात्। परलाभाभिलाषी भिक्षुः समाधिं न लभते। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २५/६)।

समणसुते अपि इदमेव प्रोक्तम् यत् अदत्तं किमपि वस्तु न गृहणीयात्। क्वचिदपि कस्यचिदपि वस्तुं दृष्ट्वा तद्-ग्रहण-भावना हीनः साधुः अस्तेय-व्रती भवति। (द्रष्टव्यः— समणसुत्तं, २/२५/७)।

धम्मपदे समणसुते च अस्तेय-महाव्रत-विषये समानता प्राप्यते। उभयोः अपि ग्रन्थयोः अदत्ता भिक्षा, अदत्तं वा किमपि वस्तु ग्राह्यम् न कथितम्।

धम्मपदे भिक्षुकृते गृहस्थकृते च सुरापानम्, मद्यपानम्, मादकवस्तु सेवनं च वर्जितम् प्रोक्तम्। एभिः मनः अशान्तं भवति एकाग्रं च न भवति। यः मद्यपान विरतो नास्ति स धर्म-मार्ग-प्रवेशाधिकारी नास्ति।

धम्मपदे कथितं यत् नरः कायिक दुराचरणाद् विरतो भवेत्। कामात् संयतो भवेत्। कायिक-दुराचरणं परित्यजेत्। कायिक-सदाचरणम् सेवेत। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १७/११)।

समणसुते प्रोक्तम् यत् निरपेक्षभावनया चारित्र-भार-वाहकस्य साधोः बाह्याभ्यन्तर-सर्व-परिग्रह-त्यागः अपरिग्रहनामकम् महाव्रतम् प्रोच्यते। (द्रष्टव्यः— समणसुत्तं, २/२५/१२)। अतिरिक्तं धम्मपदे निम्न व्रतो उल्लेखाः। विकाल भोजनं रात्रिभोजनं च त्याज्यं कथितम् रात्रि-भोजन-त्यागात् शारीरिक-रोगाणां न्यूनता भवति शरीरं च

बलशालि च भवति। चित्तशान्तिः प्राप्यते। एक काल भोजनस्य विधानमस्ति।

(२) नृत्य-गान-वाद्य-विरमाणम्-उभयोः अपि ग्रन्थयोः भिक्षूणां कृते नृत्यगान-वाद्य वादनादीनां निषेधोऽस्ति।

(३) शरीर श्रृंगारः आभूषण धारणं चापि वर्जितमस्ति।

(४) उपधानादि युक्तासु उच्चशय्यासु शयनमपि वर्जितमस्ति।

(५) सीमातीताः वस्त्रपात्रादीनामावश्यकताः अपि वर्जिताः सन्ति।

३.१२.० अप्रमादः

आलस्य दुर्व्यसनादयोऽप्रमाद संज्ञकम्। प्रायः सर्वेषु धर्मेषु अप्रमादी भवेति उपदिष्टम्। यद्यपि अप्रमत्त गुणस्थानस्य स्थितिः केवलम् मुहूर्तमात्रं अस्ति, तथापि अन्तः करणस्य संकल्पैः अप्रमत्तभावस्य प्राप्तिः भवितुमर्हति। प्रमादस्यैव कारणादयं जीवः अनन्तसंसारचक्रे निरन्तरं परिभ्रमति, अतः प्रमादः सर्वथा त्याज्यः। (द्रष्टव्यः— उत्तराध्ययनसूत्र, ३२वाँ)।

३.१२.१ धम्मपदे अप्रमादः

अप्रमादः अमृतपदस्य साधकः प्रमादश्च मृत्युपदस्य साधकोऽस्ति। अप्रमादिनः मृत्युमवाप्यापि अमृताः भवन्ति। सततं ध्यानं अभ्यसमानाः नित्याः दृढपराक्रमिणः वीरपुरुषाः परमपदं योगक्षेमरूपं निर्वाणं लभन्ते। यथा—

अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनोपदं।

अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथामता॥

— धम्मपद, २/१

उद्योगशीलः आत्मोन्नतिं कुर्वाणः ध्यानशीलः पवित्रकर्मामनुष्यः विचारपूर्वकं कार्यं कुर्वन् संयतेन्द्रियः धर्मजीवी उत्साही भूत्वा यशः प्राप्नोति। यथा—

उट्ठानवतो सतिमतो सुचिकम्मस्स निसम्मकारिणो।
सज्ज तस्स च धम्मजीविनो अप्पमत्तस्स यसोभिवड्ढति॥

— धम्मपद, २/४

उट्ठानेनप्पमादेन सज्जमेन दमेन च।
दीपं कयिराध मेधावी यं ओघो नाभिकीरति॥
पमादमनुयुजन्ति बाला दुम्मेधिनो जना।
अप्पमादं च मेधावी धनं सेट्ठं व रक्खति॥

— धम्मपद, २/५, ६

मेधावी मनुष्यः उत्थाउत्साहसंयमदमैः अर्हत्पदं प्राप्नोति, किन्तु
दुर्वुद्धिः अविवेकी मनुष्यः आलस्यरतो भवति।

प्रमादरहितः कामभोगेषु अलिप्तः ध्यानशीलः अप्रमत्तो व्यक्तिः
अतुलसुखमवाप्नोति।

यदा बुद्धिमान् उत्साहेन उद्योगेन वा आलस्यं विजयते तदा सोऽर्हत्
पदं प्राप्य शोक सन्तप्ताः प्रजाः तथैव पश्यति तथा पतिशिखरं आरूढः
बुद्धिमान् उपत्यकायां स्थितं मूर्खं पश्यति। यथा—

मा पमादमनुयुज्जेथ मा कामरतिसन्धवं।
अप्पमतां हि ज्ञायन्तो पप्पोति विपुलं सुखं॥

— धम्मपद, २/७

अप्रमादेन एव इन्द्रः देवतासु श्रेष्ठत्वं प्राप्नोत्, अतः सर्वे उत्साहं
प्रशंसन्ते आलस्यं च निन्दन्ति। यथा—

ममादं अप्पमादेन यदा नुदति पण्डितो।
पज्जापासादमारुयह असोको सोकनिं पजं॥
पब्बतट्ठो" व भूमट्ठे धीरो बाले अवेक्खति॥

— धम्मपद, २/८

एवं दृश्यते यत् उत्साहतत्परः आलस्ये च भयं पश्यन् व्यक्तिः
सूक्ष्मानि स्थालानि च सर्वप्रकारकाणि दुरितानि अपास्य निर्वाणं
प्राप्नोति। यथा—

अप्पमादेन मधवा देवानं सेट्ठतं गतो।
अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा॥

— धम्मपद, २/२०

पण्डिताः अप्रमादस्य विषये सम्यग् विज्ञाय बुद्धैः उपदिष्टे
आचरणे रताः अप्रमादे प्रमुदाः भवन्ति। यथा—

अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
संयोजनं अणुं धूलं डहं अग्गी'व गच्छति॥
अप्पमादरतो भिक्खु पमादे भयदस्सि वा।
अभव्वो परिहानाय निव्वाणस्सेव सन्तिके॥

— धम्मपद, २/११

३.१२.२ समणसुत्ते अप्रमादः

प्रमादः कर्म (आसवः) अप्रमादश्च अकर्म (संवरः) इति
कथितम्। प्रमादेन मनुष्यो बालो (अज्ञानी) भवति। अप्रमादेन च नरः
पण्डितः (ज्ञानी) भवति। यथा—

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पण्डियमेव वा॥

— समणसुत्तं, १/१३/५

पण्डिताः सुसुप्तेषु अपि जागृताः तिष्ठन्ति। प्रमादे न विश्वासं
कुर्वन्ति। दुर्बलकायाः भारण्ड पक्षी इव तेऽप्रमत्ताः विचरन्ति। यथा—

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धिजीवी, न वीससे पठिहुए आसुपण्णे।
घोरा मुहुत्ता अबलं सररीं, भारंड-पक्खी व चरेडप्पमतो॥

— समणसुत्तं, १/१३/४

प्रमत्तस्य सर्वतो भयं वर्तते अप्रमत्तस्य न किमपि भयं
भवति। यथा—

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं॥

— समणसुत्तं, १/१३/७

आलस्य युक्तः कदापि सुखी भवितुं न शक्नोति, निद्रालुः विद्याभ्यासी भवितुं नार्हति ममत्ववान् वैराग्यमधिगन्तुं न शक्नोति, हिंसकश्च दयालुः भवितुं नार्हति। यथा—

नाडडलस्सेण समु सुक्खं, न विज्जा सहनिदया।
न वेरगं ममर्तेणं, नारंभेण दयालुया॥

—समणसुत्तं, १/१३/८

यः जागर्ति तस्य बुद्धिः वर्धते, यः स्वपिति सः धन्यो न। धन्यः सः भवति, यः सदैव जागर्ति। यथा—

जागरह नरा! णिच्चं, जागरणमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति णं सो धन्नो, जो जग्गति सो सया धन्नो॥

—समणसुत्तं, १/१३/९

वस्तूनामादाननिक्षेपणयोः मलमूत्रत्यागे आसने-प्रस्थाने शयने च यो दयालुः पुरुषः सदैव अप्रमादी तिष्ठति सः निश्चयमेव अहिंसकः। यथा—

आदाणे णिक्खेवे, वोसिरणे ठाणगमणसयणेसु।
सव्वत्थ अप्पमत्तो, दयावरो होदु हु अहिंसको॥

—समणसुत्तं, १/१३/१०

३.१२.३ तुलनात्मकमध्ययनम्

धम्मपदसमणसुत्तयोः अध्ययनेन ज्ञायते यत् उभयोः ग्रन्थयोः अप्रमादी-मनुष्यः प्राधान्येन गृहीतः। अप्रमादी एव निर्वाणमधिगन्तुं शक्नोति अप्रमादी एव ज्ञानी इति उच्यते। धम्मपदे उक्तं यत् प्रमादिभ्योऽप्रमादी अज्ञान-निद्रायां सुप्तेभ्यो जनेभ्यश्च प्रज्ञया जागरणशीलः तथैव अतिधावति यथा बलिष्ठः अश्वः दुर्बलमश्वमतिर्याति। यथा—

अप्पमत्तो पमत्तेसु सुत्तेसु बहुजागरो।
अबलस्सं व सीघस्सो हित्वा याति सुमेधसो॥

—धम्मपद, २/९

एवमेव समणसुतेऽपि कथितम् यत् प्रमादः कर्म प्रमादश्चाकर्म इति। प्रमादात् मनुष्योऽज्ञानी अप्रमादाच्च ज्ञानी पण्डितो वा भवति। (द्रष्टव्यः— समणसुत्तं, १/१३/५)।

उभयो ग्रन्थयोरेतदपि उपवर्णितम् यत् अप्रमादी मनुष्यः निर्भयो भवति। अप्रमादिनः संयममार्गे विचरन्ति। एवमुभयत्रापि अप्रमादविषय समानविचारणः प्राप्यन्ते।

३.१३.० अनासक्तिः/अपरिग्रहः

बौद्धधर्मेऽनासक्तिः समग्रबन्धनानां दुःखानां च मूलं मतम्। बुद्धानुसारेण तृष्णायाः नाशे सति सर्वाणि बन्धनानि स्वयमेव मुच्यन्ते। तृष्णा दुष्पूर्ण अस्ति। (द्रष्टव्यः— जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ २३६)।

बुद्धस्य दृष्ट्याम् आसक्तमनुष्याः आसक्तेः कारणात् नानादुःखानि अनुभवन्ति। (द्रष्टव्यः— थेरेगाथा, १६/७३४)।

मुक्तिस्तु अनासक्तौ एव प्रतिफलति। (द्रष्टव्यः— भज्झिम निकाय, ३/२०)। तृष्णाप्रहरणमेव निर्वाणम्। बुद्धस्य मते परिग्रहः संग्रहवृत्तिः वा आसक्ति मूला तृष्णामूला च भवति। (द्रष्टव्यः— महानिछेसपालि, १/११/१०७)। अतः मनासक्तेः वृत्तेः उदयार्थं परिग्रहस्य विसर्जनम् अनिवार्यम्।

जैनधर्मे पंचमहाव्रतेषु अस्तेयब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः अनासक्तेरेव व्यावहारिक रूपाणि सन्ति। मनुष्यस्य अन्तःस्थिता आसक्तिः रूपद्वये प्रकटीभवति—(१) संग्रहभावनारूपे, (२) भोगभावनारूपे च।

उभाभ्यामपि भावनाभ्यां सम्प्रेर्यमाणः मनुष्यः अपरेषाम् अधिकारे स्थितानि वस्तूनि अपहरति। (द्रष्टव्यः— जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ २३४)।

अनासक्तिं जीवने व्यवहर्तुम् एतद् आवश्यकम् अस्ति यत् मनुष्यः ब्राह्मपरिग्रहस्य अपि त्यागं कुर्यात्। परिग्रहत्यागः अनासक्ति दृष्टेः

ब्राह्मजीवने प्रमाणमस्ति। चेत् मनसि अनासक्तिभावनायाः उदयः संजातः तर्हि बाह्यजीवने तस्या अभिव्यक्तिः अवश्यम्भाव्या। अनासक्तिधारणायाः व्यावहारिकः अभिव्यक्त्ये गृहस्थजीवने परिग्रहमर्यादा श्रमणजीवने च समग्रपरिग्रहत्यागः निर्दिष्टः।

३.१३.१ धम्मपदे अनासक्तिः

धम्मपदे महात्मना बुद्धेन कथितं यत् स्यात् सुवर्णमुद्राः अपि वर्षन्तु किन्तु तेनापि तृष्णायुक्तस्य मनुष्यस्य तृप्तिः न भवति। यथा—

न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति।
अप्पस्सादा दुखा कामा इति विज्जाय पडितो॥

— धम्मपद, १४/८

विषरूपिणी दुष्टा तृष्णा यम् आवृणोति तस्य दुःखानि तथैव वर्धन्ते यथा क्षेत्रेषु वीरणघासः वर्धते। यथा—

यं एसः सहती जम्मी तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्स पवड्ढन्ति अभिवड्ढं व वीरणं॥

— धम्मपद, २४/२

तृष्णा एव बन्धनम्। बुद्धेन सुष्ठु एव उक्तं यत् बुद्धिमन्तो जनाः लौहनिर्मितं काष्ठनिर्मितं रज्जुनिर्मितं वा बन्धनं बन्धनं न मन्यन्तेऽपितु दृढतरं बन्धनं तु सुवर्णरजतपुत्रस्त्रीआदिकेषु स्थिता आसक्तिरेवास्ति। यथा—

न तं दलहं बन्धनमाहु धीरा यदायसं दारुणं बब्बजं च।
सारत्तरत्तमणिकुण्डलेसु पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा॥

— धम्मपद, २४/१२

आसक्तेः क्षय एव दुःखानां क्षयः। यः व्यक्तिः तृष्णां वशीकरोति तस्य दुःखानि तथैव समाप्तिं यान्ति यथा कमलपत्रे पतितानि जलबिन्दूनि शीघ्रमेव अपाक्रियन्ते। यथा—

यो चेतं सहती जम्मिं तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति उदविन्दू" व पोक्खरा॥

— धम्मपद, २४/३

३.१३.२ समणसुत्ते अनासक्तिः

समणसुत्ते उक्तं यत् जीवः परिग्रहस्य निमित्तमेव हिंसां करोति, असत्यं वदति, चौर्यं करोति, मैथुनं सेवते, अत्यधिकं मूर्च्छां चावाप्नोति। यथा—

संगनिमित्तं मारइ, भणइ अलीअं करेइं चोरिक्कं।
सेवइ मेहुण मुच्छं, अप्परिमाणं कुणइ जीवो॥

— समणसुत्तं, १/११/१

सजीवस्य निर्जीवस्य वा स्वल्पस्यापि वस्तुनः परिग्रहं यः करोति, तत्कृते वा अपरम् अनुज्ञापयति, सः दुःखाद् मुक्तो न भवितुमर्हति। यथा—

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किंसांमवि।
अन्नं वा अणुज्जाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चई॥

— समणसुत्तं, १/११/२

समणसुत्ते महावीरेण उपदिष्टं यत् यः परिग्रहबुद्धेः त्यागं करोति स एव परिग्रहं त्यक्तुं समर्थो भवति। न यः परिग्रहवान् स एव मुनिः पथदर्शनमकरोत्। यथा—

जे ममाइय मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नी ममाइयं॥

— समणसुत्तं, १/११/३

सम्पूर्णग्रन्थात् (परिग्रहा) मुक्तः प्रसन्नचित्तः श्रमणः यादृशं मुक्तिसुखमनुभवति न तादृशं सुखं चक्रवर्तिनापि अनुभूयते। यथा—

सव्वगंधविमुक्को, सीईभूओ पसंतचित्तो अ।
जं पावइ मुत्तिमुहं, न चक्कवट्ही वि तं लहइ॥

— समणसुत्तं, १/११/६

समणसुत्तानुसारेण यथा हस्तिनं वशीकर्तुं अंकुशो भवति, नगरं परिरक्षितुं च परिखा भवति, तथैव इन्द्रिय निवारणार्थं परिग्रह-त्यागः कथितः। परिग्रह त्यागेन इन्द्रियः वशीभवन्ति। यथा—

गंथच्चाओ इदिय-णिवारणे, अंकुसो व हत्थिस्स।

णयरस्स खाइया वि य, इदिमगुत्ती असंगत।।

— समणसुत्तं, १/११/७

३.१३.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपदसमणसुत्तयोः तुलनात्मकेन अध्ययनेन ज्ञायते यत् परिग्रहत्यागस्य चर्चा उभाभ्यामपि बुद्धमहावीराभ्यां कृता।

द्वयोरपि ग्रन्थेयोः आसक्तिक्षयात् दुःखक्षयः निर्दिष्टः। धम्मपदे कथितं यत् यः तृष्णां वशीकरोति तस्य दुःखानि कमलपत्रे पतितानि जलबिन्दूनि इव आशु समाप्यन्ते। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २४/३)। एवमेव समणसुत्तेऽपि उक्तं यत् इन्द्रियाणां वशीकरणार्थं परिग्रहत्यागः तथैव आवश्यको भवति यथा गजराजं वशीकर्तुं अंकुशस्य आवश्यकता भवति। (द्रष्टव्यः— समणसुत्तं, १/११/७)।

अतः उभयोः साम्यमवलोक्यते। उभयानुसारेण व्यक्तेः अपरिग्रहाङ्गीकारः आवश्यकीयः।

उभयोः अन्तरमेतद् विधत्ते यत् समणसुत्ते बाह्यपरिग्रहस्य पूर्णत्यागः अनिवार्यः मतः, किन्तु धम्मपदे अनासक्तिवृत्ते उदयः पूर्णपरिग्रह त्यागं विनापि सम्भाव्यः इति स्वीकृतम्। किन्तु अनासक्तेः पूर्णप्रकटनेन सः परिग्रहमुक्तो भूत्वा मुनिः भवति। (द्रष्टव्यः— जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ २३९)।

वस्तुतः अस्मिन् विषये धम्मपदे-समणसुत्ते च सैद्धान्तिकसाम्यं वर्तते व्यवहारिकपक्षस्तु असमान एव।

३.१४.० अहिंसा

बौद्धपरम्परायां मनसा वाचा कर्मणपि प्राणिनः प्रति अकष्टकरं व्यवहारं अहिंसेति कथितम्। (द्रष्टव्यः—संयुत्तनिकाय, पृष्ठ ७१)। अहिंसामार्गगामी विशलकायान् जन्तून् न अपितु एकेन्द्रियान् वृक्षपादपानपि न कष्टायते। (द्रष्टव्यः—विनयपटिक, पृष्ठ २०७)। यद्यपि अहिंसा मैत्री चेति परस्परमन्योऽन्याश्रिते, तथापि मैत्री प्राधान्येनोपवर्णिता।

दीर्घनिकायस्य ब्रह्मजालासुत्ते भिक्षून् उपदिशन् बुद्धः शीलेषु अहिंसा अस्तेयः ब्रह्मचर्यः सत्यं मद्यत्यागचेति एतान् मुख्यं स्थानीयान् अकथयत्। एतेषामङ्गीकारः भिक्षुभिः अत्यावश्यकम्।

विज्जसुत्ते मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षाभावना च ब्रह्मत्व प्राप्तेः मार्गरूपेण वर्णिताः।

संयुत्तनिकायान्तर्गतं “ब्राह्मणसंयुत्ते” “अहिंसासुत्ते” बुद्धेन अहिंसक शब्दं परिभाष्यमाणेन कथितं यत् यः कायेन मनसा वाचा कमपि प्राणिनं नोत्पीडयति, स एवाहिंसकः।

स एव यज्ञः हितकरः यस्मिन् अजगोइत्यादिपशुनां हिंसा न भवति।

मैत्री भावनायां या शक्तिः विद्यते सा मानवान् सर्वथा सुरक्षितान् करोति। मैत्रीयुक्तः जनः निर्भयो भवति। यस्मिन् कल्याणकारिण्याः मैत्री भावनायाः शुभागमो भवति तस्मिन् मोक्षप्राप्तिलक्षणानि परिलक्ष्यन्ते।

सुत्तनिपातस्य मत्तसुत्ते सर्वान् प्राणिन् प्रति मैत्री भावः ब्रह्मविचार इति पदेन संज्ञितः। एतद् ब्रह्मज्ञानमपि उच्यते। अतः यो मनुष्यः शान्तिपदाभिलाषी अस्ति सः जंगमस्थावराणां दीर्घमहतां मध्यमह्रस्वाणां दृष्टा-दृष्टानां सर्वेषामेव जीवानां कल्याण वार्तामेव कुर्यात्।

अहिंसा जैन आचारदर्शनस्य प्राणभूतमस्ति। अहिंसा एव तद् धुरमस्ति यस्मिन् समग्रो जैन आचारविधिः धूर्मति। अहिंसा भगवती

माता। (द्रष्टव्यः— जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ १९५)।

प्रश्नव्याकरणसूत्रे उक्तं यत् यथा भीतानां शरणं खगानां गगनं तृषितानां जलं बुभुक्षिताणां भोजनं समुद्रमध्यस्थानां पोतः रोगिणामौषधिः वने च सार्थवाहस्य संगः आधारभूतस्तथैव अहिंसा तत्त्वं प्राणिनां आधारभूतम्। अहिंसा चराचराणां सर्वेषामेव कल्याणकरी। (द्रष्टव्यः— प्रश्नव्याकरणसूत्र, २/१/२१/२२)।

आचारांगसूत्रे कथितं यत् भूतभविष्यवर्तमानाः सर्वेऽहन्त इदमुपदिशन्ति यत् प्राणपूतजीवसत्त्वाः कथमपि न परितापनीयाः उद्वेगनीयाः न शदुःखितव्याः न च हन्तव्याः। एष एव नित्यः शुद्धाश्वतश्च धर्मः। समस्तलोकस्य पीडां विज्ञाय अर्हद्भिः एष नियमः प्रतिपादितः। (द्रष्टव्यः— आचारांग सूत्र, १/४/१/१२७)।

कोऽपि प्राणी न हिंसनीयः। अहिंसा एव धर्मसर्वस्वसारभूतम् इति सदा स्मरणीयम्। (द्रष्टव्यः— सूत्रकृतांग, १/४/१०)। अहिंसा सदृशोऽपरो धर्मो न विद्यते। (द्रष्टव्यः— भक्तपरिज्ञा, ९१)।

३.१४.१ धम्मपदे अहिंसा

ये मनुष्याः हिंसारहिताः नित्यं स्वशरीरेण संयताः ते तम् अच्युतं पदं प्राप्नुवन्ति यत् प्राप्य न ते शोकभाजाः भवन्ति। यथा—

अहिंसका ये मुनयो निच्चं कायेन संवृता।

ये यन्ति अच्युतं ठानं यत्थ गन्त्वा न सोचरे॥

— धम्मपद, १७/५

प्राणिषु हिंसमानः कदापि आर्यो भवितुं न शक्नोति सर्वप्राणिषु अहिंसमानः एव आर्यो भवति। यथा—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।

अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति॥

— धम्मपद, १९/१५

यश्चराचरेषु प्राणिषु घातं न करोति, तान् प्राणिनः न पीडयति तान् हन्तुं न प्रेरयति, यः हिंसया सर्वथा विरतः स एव ब्राह्मणः। यथा—

न ब्राह्मणस्सेतद किञ्चि सेय्यो यदा निसेधो मनसोपियोहि।
यतो यतो हिंसमनो निवत्तति ततो ततो सम्मति एव दुक्खं॥

— धम्मपद, २६/८

प्राणिनः कदापि हिंसा न कुर्युः यः स्वसुखमभिलषन् सुखं कामयन्तम् अपरं प्राणिनं दण्डयति सः मृत्युं प्राप्यापि सुखं न लभते। यथा—

सुख कामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखं॥

— धम्मपद, १०/३

धम्मपदे एतदपि उक्तं यत् विजयेन वैरं भवति पराजितः दुःखी भवति। अतः येन जयः पराजयश्च उभौ अपि मुक्तौ स एव सुखी शान्तश्चास्ति। यथा—

जयं वैरं पसवति दुक्खं सेति पराजितो।
उपसन्तो सुखं सेति हित्वा जयपराजयं॥

— धम्मपद, १५/५

यः स्वसुखं कामयन् सुखम् ईहमानान् अपरान् न दण्डयति सः मृत्युमवाप्यापि सुखी भवति। यथा—

सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन न हिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं॥

— धम्मपद, १०/४

३.१४.२ समणसुत्ते अहिंसा

जीवान् मनसा वाचाकायेन कस्यामपि परिस्थितौ अदुःखीकरणमेव अहिंसा। मनसा कमपि पीडयितुं चिन्तनमपि हिंसा भवति। सर्वे जीवाः

जीवितुं वाञ्छन्ति, न मरणम्। अतः प्राणवधं भयानकं इति विज्ञाय निर्ग्रन्थाः तं वर्जयन्ति। यथा—

सव्वे जीवा विइच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।

तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंधा वज्जयति णं॥

—समणसुत्तं, १/१२/२

ज्ञानिभवनस्य सारभूतमेतदेव यत् कमपि प्राणिनं न हिंसयेत्। एतद् ज्ञानमेव पर्याप्तं यत् अहिंसामूला समता एव धर्मः। अथवा इदमेव अहिंसायाः विज्ञानमस्ति। यथा—

ए यं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण।

अहिंसासमयं चेव, एतावन्ते वियाणिया॥

—समणसुत्तं, १/१२/१

लोके येऽपि त्रसाः स्थावराश्च प्राणिनः सन्ति, निर्ग्रन्थः ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा तान् न हन्यात् नापि हन्तुं प्रेरयेत्। यथा—

जीवन्ति लोए पाणा, तसा अदुव प्पावरा।

ते जाणमजाणं वा, ण हणे णो वि घायए॥

—समणसुत्तं, १/१२/३

यथा तुभ्यं दुःखं न प्रियं तथैव सर्वेभ्यो अपि जीवेभ्यो दुःखं न प्रियं भवति, इति ज्ञात्वा पूर्णादरेण सावधानतया च आत्मवत् सर्वेषु दया करणीया कोऽपि न पीडनीयः। यथा—

जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।

सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं॥

—समणसुत्तं, १/१२/४

ये अपरान् हन्यान् मन्यन्ते ते तथैव सन्ति। यम् अनुशासननीयं मन्यसे सोऽनुशासनीयः त्वं स्वयमेवासि। रागादीनां उत्पत्तिः हिंसा तेषाम् अनुत्पत्तिश्च अहिंसा कथ्यते। यथा—

तुमं सि णाम स चेव, जं हतंत्वं ति मन्नसि।
 तुमं सि नाम स चेव, जं अज्जावेयत्वं ति मन्नसि॥
 रागादीणमणुप्पाओ, अहिंसकत्तंति देसियं समए।
 तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिछिट्ठा॥

—समणसुत्तं, १/१२/६, ७

हिंसा करणस्य अध्यवसायेनैव कर्मणो बन्धो भवति। कोऽपि जीवः मृत्युमेतु न वा। जीवेषु कर्मबन्धनस्य इदमेव स्वरूपम्। यथा—
 अज्झवसि एण बंधो, सत्ते मारेज्ज मा थ मारेज्ज।
 एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्छयणयस्स॥

—समणसुत्तं, १/१२/८

हिंसा स्यात् स्वयं कुर्यात् केनापि कारयेत् वा उभयोरपि परिस्थितयोः परिणामो हिंसा एव भवति। अतः प्रमादयोगः नित्यप्राणघातकः इति। यथा—

हिंसादो अविरमणं, वहपरिणामो य होइ हिंसा हु।
 तम्हा पमत्तजोगो, पाणव्ववरोव ओ णिच्चं॥

—समणसुत्तं, १/१२/९

ज्ञानीमनुष्यः कर्मक्षयार्थम् उदितः न हिंसार्थम्। सः निश्चलभावेन अहिंसार्थं प्रयतते। सोऽप्रमत्तमुनिः अहिंसको भवति। यथा—

णाणी कम्मस्स खयत्थ-मुट्ठिदो णो ट्ठिदो य हिंसाए।
 अददि असदं अहिंसत्थं, अप्पमत्तो अवधगो सो॥

—समणसुत्तं, १/१२/१०

आत्मना हिंसा भवति तस्यैव च अहिंसा। योऽप्रमत्तः सोऽहिंसकः यश्च प्रमत्तः सः हिंसकः। यथा—

अत्ता चेव अहिंसा, अत्ता हिंसति णिच्छओ समए।
 जो होदि अप्पमत्तो, अहिंसगो हिंसगो इदरो॥

—समणसुत्तं, १/१२/११

यथा संसारे मेरोरून्नततरं आकाशाच्च विशालतरं न किञ्चिदपि अन्यदस्ति तथैव अहिंसासदृशः न कोऽपि अपरो धर्मः विद्यते। यथा—

तुगुं न मंदराओ, आगासाओ विसालयं नत्थि।

जह तह जयमि जाणसु, धम्ममहिंसासमं नत्थि॥

—समणसुत्तं, १/१२/१२

क्षणिकेऽनित्ये जीवलोके त्वमात्मानं कथमासक्तं करोषि। यथा—

अभयं पत्थिवा! तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।

अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि॥

—समणसुत्तं, १/१२/१३

यः सर्वेषामपि वस्तूनां उत्थापने समापने मलमूत्रत्यागे, उपवेशने प्रस्थाने शयने च अप्रमादी दयालुश्च भवति सः निश्चयरूपेण अहिंसक एव भवति। यथा—

आदाणे णिक्खेवे वोसिरणे ठाणगमणसयणे सु।

सव्वत्थ अप्पमतो, दयावरो होदु हु अहिंसओ॥

—समणसुत्तं, १/१३/१०

३.१४.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपदे समणसुत्ते चोभयोरपि ग्रन्थयोः जीवहिंसा वर्जिता। मनसा-वाचाकायेनापि कथमपि कदापि अदुःखी करणमेव अहिंसा।

अहिंसाया अभिप्रायमधिकृत्य सर्वेषु एव धर्मेषु एकरूपता विद्यते। अहिंसाया आदर्श बुद्धः महावीरश्च समरूपेण स्वीकुरुतः। किन्तु अहिंसायाः पूर्ण आदर्श व्यावहारिकजीवने अंगीकरणस्य विषये उभयोः कश्चन भेदः प्रतीयते। उभाभ्यामपि केचिद् अपवादाः स्वीकृताः। एवं जीवनधारणार्थं रक्षणार्थं च कृतं जीवघातं हिंसां वा हिंसां न मन्यतः उभावपि। (द्रष्टव्यः—जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ २१३)।

उभयो अपि धर्मयोः मुख्यतया हिंसा अहिंसयोः प्रश्नः आन्तरिकोऽस्ति। बाह्यरूपेण हिंसायां सत्यमपि रागद्वेषप्रवृत्तिभ्यो परोऽप्रमत्तः मनुष्योऽहिंसक इति उच्यते विपरीतं बाह्यरूपेण अहिंसमानोऽपि प्रमत्तो मनुष्यः हिंसको भवति।

उभयोः धर्मयो एतद्विषयेऽपि ऐकमत्यम् अस्ति यत् स्वस्वशास्त्राणाम-
नुशासनानुसारेण आचरणेन हिंसापि हिंसारूपेण न गम्यते। (द्रष्टव्यः— दर्शन
और चिन्तन, पृष्ठ ४१०-४११)।

उभयोः ग्रन्थयोः “मा हिंसीः” इति निषेधेन दयाकरुणदानसेवा-
सहयोगादयः विधायकार्थाः वर्णिताः।

जीवहिंसायाः परित्यागः उभयोरपि ग्रन्थयोः मतः। जीवेषु दया
आत्मदया एवास्ति। (द्रष्टव्यः—समणसुत्तं, १/१२/५)। इति धम्मपदेऽपि
स्वीकृतम्, यत् सुखं कामयमानान् जनान् आत्मसुखं कामयन् यः पुरुषः
दण्डेन न प्रहरते स मृत्युमधिगम्य अपि सुखमवाप्नोति। (द्रष्टव्यः—धम्मपद,
१०/४)।

समणसुत्ते धम्मपदे चोभयत्रापि उल्लिखितं यत् ज्ञानिभावस्य
सारोऽयं यत् कमपि प्राणिनं न हिंसयेत्। एतद्ज्ञानमेव पर्याप्तं यत्
अहिंसामूला समता एव धर्मः। अथवा इदमेव अहिंसायाः विज्ञानम्।
(द्रष्टव्यः—समणसुत्तं, १/१२/१; धम्मपद, १०/३)।

सर्वेषु प्राणिषु दया कार्या कोऽपि न पीडनीयः। (द्रष्टव्यः—समणसुत्तं,
१/१२/४, धम्मपद, २६/२३)। इति द्वयोरपि ग्रन्थयोः स्वीकृतम्।

चतुर्थोऽध्यायः
धम्मपद-समणसुत्तयोः
दार्शनिकसिद्धान्तानां
तुलनात्मकम् अध्ययनम्

४.१.० सम्यक्-दर्शनम्

सामान्यरूपतः 'सम्यक्' शब्दः सत्यतायाः यथार्थतायाः वा परिचायकः वर्तते। तद् 'उचितता' अपि कथयितुं शक्यते। सम्यक्त्वस्य एकः अर्थः तत्त्व-रुचिम् अस्ति। (द्रष्टव्यः—अभिधानराजेन्द्र, खण्ड-५, पृष्ठ २४२५)। अस्मिन्नर्थे सम्यक्त्वं सत्याभिरुचिरस्ति। अर्थद्वये सम्यक् दर्शनं नैतिकजीवनाय आवश्यकम् वर्तते।

'दर्शन' शब्दोऽपि जैनागमेषु नैकेषु अर्थेषु प्रयुक्तोऽस्ति। जीवादि पदार्थानां स्वरूपदर्शनम्, ज्ञानम्, श्रद्धाऽपि दर्शनमस्ति। (द्रष्टव्यः—अभिधानराजेन्द्र, खण्ड-५, पृष्ठ २४२५)। अत्र दर्शनशब्दस्यार्थः केवलं नेत्रजन्यबोधः नास्ति। तस्मिन् इन्द्रियबोधः, मनोबोधः, आत्मबोधश्च सम्मिलितः। नैतिकजीवनदृष्ट्या विचारे कृते सति दर्शनशब्दस्य दृष्टिकोणपरक-अर्ध-प्राप्तिः भवति। प्राचीनजैनागमेषु दर्शनशब्दस्थाने दृष्टिशब्दस्य प्रयोगाधिक्यं दृश्यते। तत्त्वार्थसूत्रे (द्रष्टव्यः—तत्त्वार्थसूत्र, १/२) उत्तराध्ययने (द्रष्टव्यः—उत्तराध्ययन, २८/३५) च दर्शनशब्दस्यार्थः तत्त्वश्रद्धा वर्तते। जैन साहित्ये दर्शनशब्दः देव-गुरुधर्माणां श्रद्धा भक्ति-अर्थेषु प्रयुक्तो वर्तते। (द्रष्टव्यः—सामयिकसूत्र-सम्यक्त्व पाठ)।

सम्यक्दर्शनशब्दस्यार्थं विचारकृते सति भिन्ना-भिन्ना अर्थप्राप्तिः भवति। बुद्धस्य महावीरस्य च काले प्रत्येकधर्मप्रवर्तकः स्वसिद्धान्तं सम्यक् दृष्टिः, इति अन्यस्य सिद्धान्तं मिथ्यादृष्टिः इति कथयति स्म।

सम्यक्-दर्शनं जैन आचारव्यवस्थायाः आधारः वर्तते। नन्दि-सूत्रे सम्यक्-दर्शनं सुमेरुवत् संघस्य सुदृढ भूमिपीठिका रूपेण चित्रित्रोऽस्ति यस्योपरि ज्ञानचारित्रं उत्तम धर्मस्य पर्वतमाला अस्ति। (द्रष्टव्यः- नन्दि-सूत्र, १/१२)।

४.१.१ धम्मपदे सम्यक्-दर्शनम्

धम्मपदे सम्यक्दर्शनस्य अर्थसाम्यं सम्यक्दृष्टिः इति वर्तते। धम्मपदे सम्यक्दृष्टिः चतुर्णामार्यसत्यानां प्रतिश्रद्धा वर्तते। श्रद्धाया अर्थः बुद्धस्य, संघस्य धर्मस्य च प्रति निष्ठा। यः कोऽपि संघस्य शरणे गच्छति तथा चतुर्णां आर्यसत्यानां भावनां करोति, सः एव सर्वदुःखतः मुक्तो भवति। स एव मुक्तिगामी आर्याष्टौगिकमार्गं सम्यक् प्रज्ञया द्रष्टुं प्रभवति। इदमेव रक्षादायकशरणम् उत्तमशरणं चास्ति। शरणमिदं लब्ध्वा सर्वदुःखेभ्यः मुक्तोऽभवति। यथा—

यो च बुद्धं च धम्मञ्च संघञ्च सरणं गतो।
चंतारि अरियसच्चानि सम्मप्यज्जाय पस्सति॥
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिककमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं॥
नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरणमुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

— धम्मपद, १४/१२, १३, १४

सम्यक्दृष्ट्याभावात् शीलस्य समाधेश्च प्राप्तिः न भवति। धम्मपदे कथितं विद्यते—ये जनाः दोषयुक्तं कार्यं दोषयुक्तं तथा दोषरहितं कार्यं दोषरहितं ज्ञात्वा यथार्थधारणं कुर्वन्ति ते प्राणिनः सम्यक्दृष्टिं धारयित्वा सद्गतिं प्राप्नुवन्ति। यथा—

अवज्जे वज्जमतिनो वज्जे वज्जदस्सिनो।
मिच्छादिट्ठिसमादाना सत्ता गच्छन्ति दुग्गतिं॥

वज्जञ्च वज्जतो अत्वा अवज्जञ्च अवज्जतो।
सम्मादिट्ठसमादाना सत्ता गच्छन्ति सुगतिं॥

— धम्मपद, २२/१३, १४

सम्यक्दर्शनस्य परिणामस्वरूपेव सदाचारस्य प्राप्तिः भवति। यः शीलेन सम्यक्दर्शनेन च, सम्यक् दृष्ट्या स्वकार्यं करोति तं जनाः प्रियं कथयन्ति। यथा—

सीलदस्सनसम्पन्नं धम्मट्ठं सच्चवादिनं।
अत्तनो कम्मकुब्बानं तं जनो कुरुते पियं॥

— धम्मपद, १६/९

४.१.२ समणसुत्ते सम्यक्-दर्शनम्

समणसुत्ते सम्यक्दर्शनं 'मुक्ते अधिकारपत्रम्' इति कथितमस्ति। सम्यक् दर्शनं मोक्षवृक्षस्य मूलं विद्यते। यथा—

सम्मत्तरयणसारं, मोक्खमहारूक्खमूलमिदि भणियं।
तं जाणिज्जइ णिच्छय-बवहारसरूवदोभेयं॥

— समणसुत्तं, २/१८/१

समणसुत्ते एव कथितमस्ति यः मौनं तदेव सम्यक्दर्शनम्, यः सम्यक् दर्शनं तदेव मौनमस्ति। यथा—

जं मोणं तं सम्भं, जं सम्मं तमिह होइ मोणं ति।
निच्छयओ इयरस्स उ, सम्मं सम्मतहेऊ वि॥

— समणसुत्तं, २/१८/३

सम्यक्दर्शनं विहीन पुरुषः वाञ्छित लाभं न प्राप्नोति। यः सम्यक्दर्शनेन शुद्धः सः एव निर्वाणं प्राप्नोति। यथा—

दंसणसुद्धो दंसणसुद्धो लहेइ णिव्वाणं।
दंसविहीण पुरिसो, न लहइ तं इच्छियं लाहं॥

— समणसुत्तं, २/१८/६

सम्यक्दर्शनस्य अष्टाङ्गानि सन्ति। संशयशीलतायाः अभावः निश्शङ्कता। साधकस्य मनः स्थितिः संशयापन्नः भवति तदा सः संसारेस्मिन् भ्रमितस्तिष्ठति तथा स्वलक्ष्यं प्राप्तुं न शक्नोति। सम्यक् दृष्टि जीवाः निश्शङ्काभवन्ति। ते लोक परलोका रक्षाऽगुप्ति मृत्युवेदनाऽकस्मात् संज्ञेकेभ्यः भयेभ्यः रहिताः भवन्ति, अतएव निश्शङ्काः भवन्ति। यथा—

सम्मादिट्ठी जीवा, णिस्संका होति णिब्भया तेण।

सत्तभयविप्पमुक्का, जम्हा तम्हा दुणिसंका॥

खाई-पूया-लाहं सक्काराईं किमिच्छसे जोई।

इच्छसि जइ परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोये॥

—समणसुत्तं, २/१८/१४, १७

आनन्दमयपरमात्मस्वरूपे निष्ठा एव कस्यापि परभावस्याकांक्षाभावः निष्कांक्षता भवति। भौतिकसुखानां लक्ष्यीकरणमेव आकांक्षा। यः समस्तकर्मफलेषु तथा सम्पूर्णवस्तुधर्मेषु आकांक्षा न करोति तमेव निराकांक्षी सम्यक्द्रष्टा च कथयन्ति। यथा—

जो दुण करोति कंखं, कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेषु।

सो णिक्कखो चेदा, सम्मादिट्ठी मुणे यण्वो॥

—समणसुत्तं, २/१८/१५

फलस्य प्रति सन्देहाभावः निर्विचिकित्सा। यः समस्त धर्माणां प्रति ग्लानिः न करोति, तादृशं जनं निर्विचिकित्साधारकः इति कथ्यते। यथा—

जो ण करोदि जुगुप्पं, चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं।

सो खलु णिव्विदिगिच्छो, सम्मादिट्ठी गुणेयव्वो॥

—समणसुत्तं, २/१८/१८

शास्त्रीयज्ञानाभावः समयमूढता। यः समस्तभावनां प्रति विमूढः नास्ति अपितु जागरूकः निर्भ्रान्तः दृष्टिसम्पन्नश्चास्ति, स अमूढदृष्टिरेव सम्यक्दर्शनमस्ति। यथा—

जो इवइ असम्मूढो, चंदा सछिट्ठी सव्वभावेसु।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो, सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो॥

— समणसुत्तं, २/१८/१९

अस्यार्थः वृद्धिकरणं, पोषणकरणम्। स्वाध्यात्मिकगुणानां विकसनमेव उपगूहनं उपवृंहणं वा वर्तते। ज्ञानदर्शनचरित्रपमुक्तित्याहैः जीवनस्य विकासनं करणीयम्। यथा—

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तहेव य।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य॥

— समणसुत्तं, २/१८/२०

व्यक्तेः भौतिकी सेवा नास्ति सत्सेवा। धर्ममार्गे तस्याः स्थिरीकरणमेव सत्-सेवा वर्तते।

धर्माचरणयुक्तानां समानगुणशीलानां जनानां प्रेमसम्बन्धः वात्सल्यं वर्तते। प्रियवचनवदनमपि वात्सल्यं भवति। यथा—

जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदिपरससद्धाए।
पियवयणं जयंतो, वच्छल्लं तस्स भवस्स॥

— समणसुत्तं, २/१८/२४

साधनाक्षेत्रे स्वपरकल्याणभावना निहिताभवति। साधना, सदाचार ज्ञानस्य च सुरभिना जगतः अन्य जनान् धर्ममार्गे उन्मुखीकरणं प्रभावना भवति। जीवेषु दयानुकम्पया धर्मस्य प्रभावना करणीयम्। प्रभावनाया अप्टभेदाः सन्ति। प्रवचन-धर्मकथाज्ञाता, तपस्वी, निमित्तशास्त्रज्ञाता, विद्यासिद्धः ऋद्धि सिद्धि स्वामी, कवित्वशक्ति सम्पन्नश्च इत्यष्टधर्म प्रवाहकाः कथिताः सन्ति। यथा—

धम्मकहाकहणेण य, बाहिरजोगेहिं चावि अण वज्जे।
धम्मो पहाविदव्वो, जीवेसु दयाणुकपा॥
पावयणी धम्मकही, वाई नेमिप्पिओ तपस्वी य।
विज्जा सिद्धो य कवी, अट्ठेव पभावगा भणिया॥

— समणसुत्तं, २/१८/२५, २६

४.१.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

यथा समणसुते सम्यक्दर्शनस्य शंकाकांक्षा विचिकित्सेत्यादि दोषाः सन्ति तथैव धम्मपदेऽपि पञ्च नीवरणाः स्वीकृताः सन्ति। तेषां नामानि-कामभोगेच्छा, अविहिंसा, मानसिकचैत्रसिकालस्यम्, चित्तस्य चंचलता, विचिकित्सा चेति सन्ति।

तुलनात्मकदृष्ट्या बौद्धपरम्परायाः कामच्छन्दः जैनपरम्परायाः कांक्षा नामक अतिचारस्य समानं वर्तते। एवं प्रकारेण विचिकित्सा दर्शनद्वये स्वीकृता वर्तते। जैन परम्परायां संशयः विचिकित्सा च पृथक्-पृथक् कथिताः। परन्तु बौद्धपरम्परायां द्वयोः अन्तरभावः एकेव कृतो वर्तते। धम्मपदे समणसुते समानता वर्तते।

धम्मपदे सम्यक्दर्शनस्यार्थसाम्यं सम्यक् दृष्टिः इति वर्तते। येन प्रकारेण जैनदर्शनं समणसुते सम्यक् दर्शनं तत्त्वश्रद्धा वर्तते, तथैव बौद्धदर्शने सम्यक्दृष्टिः चतुर्णामार्यसत्यानां प्रति श्रद्धा।

येन प्रकारेण समणसुते सम्यक्दर्शनस्यार्थः देवगुरुधर्मप्रतिनिष्ठेति कथितः तथैव धम्मपदे श्रद्धाया अर्थः बुद्धसंघधर्माणां प्रति निष्ठा इति। येन प्रकारेण समणसुते देवरूपे आराधनं साधनाया आदर्शः स्वीकृतः तथैव बौद्धपरम्परायां धम्मपदे साधनाया आदर्शरूपे बुद्धं बुद्धत्वं च स्वीकृतम्। साधनायाः मार्गे द्वयोः मते धर्मस्य प्रति निष्ठा आवश्यकी भवति। जैन परम्परायां पथ-प्रदर्शकरूपे गुरुं स्वीकृतः बौद्धपरम्परायां गुरोस्थानि संघः स्वीकृतः।

जैनदर्शने सम्यक् दर्शनस्य दृष्टिकोणपरकः श्रद्धापरकश्च अर्थद्वयं स्वीकृतम्। बौद्ध परम्परायां श्रद्धा सम्यक्दृष्टिश्चेति भिन्नरूपे स्वीकृता। तथापि समवेतरूपेण जैनदर्शनस्य सम्यक्दर्शनावधारणा बौद्धदर्शनेऽपि प्रस्तुतोऽस्ति। बौद्ध परम्परायां सम्यक्दृष्टेरर्थः दुःखम् दुःखस्य कारणम्, दुःख निरोधः दुःखनिरोधमार्गं चेति चतुर्णामार्य सत्यानां स्वीकृतिः विद्यते। येन-प्रकारेण जैन दर्शने जीवादि नव तत्वानां श्रद्धानमस्ति तथैव बौद्धदर्शने अयि सत्यानां श्रद्धानमस्ति।

यदा सम्यक् दर्शनस्य तत्त्वदृष्टिः, तत्त्वरद्धानतः वा भिन्नः श्रद्धापरकोर्थः स्वीकृतः भवति तदा बौद्धपरम्परायां श्रद्धाया अर्थः चित्तस्य प्रसादरूपिणी अवस्था वर्तते। यदा चित्ते श्रद्धा आविर्भवति तदा सा चित्तं प्रीति प्रमोदेन परिपूर्णं कृत्वा चित्तमलनान् नष्टं करोति। बौद्धदर्शने श्रद्धां प्रथमं प्रज्ञामन्तिमस्थानं दत्तं वर्तते। साधनामार्गदृष्ट्या श्रद्धा पूर्वं प्रज्ञापश्चादाविर्भवति। अतएव श्रद्धा-प्रज्ञा व समीपे एव वर्तते। (दृष्टव्यः—जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ६५, ६६)।

४.२.० निर्वाणम्

निर्वाणस्य शाब्दिकोऽर्थोऽस्ति “निःशेषेण वानं गमनं निर्वाणमिति” अर्थात् सम्पूर्णरूपेण गमनं निर्वाणम्। निर्वाणानन्तरम् जीवस्य संसारे पुनरागमनं न भवति। अतोऽत्र निर्वाणस्य अभिप्रायः कर्मजन्य सांसारिक-अवस्थानाम् आत्यन्तिकसमाप्तिः भवति।

निर्वाणस्य स्वरूपं समुच्यमानाः बहवः शब्दाः प्राप्यन्ते यैः निर्वाणस्य स्वरूपं ज्ञातुं शक्यते। प्रथमं तावत् मोक्ष शब्दो दृष्टव्यः। ‘मोक्ष’ इति पदस्य व्युत्पत्तिः मुच् धातुना भवति यस्यार्थो भवति मुक्तिः। एवं मोक्षस्य तात्पर्यो भवति सर्वप्रकारकैः बन्धनैः विमुक्तस्य जीवस्य स्वस्वरूपस्य प्राप्तिः।

अपरः शब्दः ‘बहिः विहार’ इति प्रयुक्तः। ‘विहार’ इति शब्दस्य अर्थो भवति जन्मजरा-मरणैर्व्याप्तः संसारः। विहारात्बहिरिति बहिर्विहारः अर्थात् जन्म जरामरणात्मकेन सांसारिकावागमनेन रहितं स्थानम्। एतादृशं स्थानं मोक्ष एवोच्यते। मोक्षं प्राप्त्यनन्तरं जीवस्य संसारे आवागमनं न भवति। एतस्मादेव ग्रन्थे “बहिः विहार” इति शब्दः प्रयुक्तः।

मोक्षं प्राप्यमार्गः जीवः बुद्धः मुक्तश्च श्रुत्वा स्व अभीष्टं प्राप्य सिद्धलोकं प्राप्नोति। एवं आत्मवसतिः सुगतिः ऊर्ध्वदिशा अपुनरावृत्त दुरारोहः शाश्वत आदयः शब्दाः उक्तेऽर्थे प्रयुक्ताः। सर्वेषामपि

शब्दानामनुसारेण मोक्षदशायां न किमपि कर्म शिष्यते न च कस्यापि प्रकारस्य दुखस्य उपभोगः करणीयो भवति। (द्रष्टव्यः—बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १००-१०१)।

४.२.१ धम्मपदे वर्णितम् निर्वाणम्

धम्मपदे भगवता बुद्धेन उक्तं यत् सततं ध्यानाभ्यासं कुर्वाणः नित्यः दृढः पराक्रमी वीरः पुरुषः परमपदस्य योगक्षेमरूपस्य निर्वाणस्य लाभं प्राप्नोति। यथा—

ये ज्ञायिनो साततिका निच्चं दल्ह-परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेमं अनुत्तरं॥

— धम्मपद, २/३

येषां चित्तम् सम्बोध्यङ्गेषु सम्यक् अभ्यस्तं ये अनासक्ताः भूत्वा परिग्रहत्यागे रताः क्षीणश्रयाः द्युतिमन्तश्च सन्ति ते एव लोके निर्वाणं लब्धवन्तः। यथा—

ये सं सम्बोधि अङ्गेषु सम्मा चित्तं सुभावितं।
आदान-पटिनिस्सगगे अनुपादाय ये रता।
खीणासवा जुतीमन्तो ते लोके परिनिब्बुता॥

— धम्मपद, ६/१४

यदि व्यक्तिना आत्मा उच्छिन्नकांसवत् निःशब्दीकृतः तर्हि नूनं तेन निर्वाणमधिगतं अत्र प्रतिवादो नास्ति। यथा—

स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा।
एस पत्तोसि निब्बान सारम्भो ते न विज्जति।

— धम्मपद, १०/६

धम्मपदे कथितं यत् नास्ति रागसमं अग्निः द्वेषसमं मलं न, पंचस्कन्धसमं किमपि अन्यत दुःखं न निर्वाणादृते च सुखं नास्ति। यथा—

नत्थिं रागसमो अग्गि नत्थि दोससमोकलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं॥

— धम्मपद, १५/६

निर्वाणं परमं सुखमिति मतम्। बुभुक्षा महन्तमो रोगः संस्कारश्च परमं दुःखम्। एवं यथार्थं विज्ञाय निर्वाणमेव महत्सुखम्। यथा—

जिधच्छा परमा रोगा, संसारा परमा दुखा।
एवं जत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं॥

— धम्मपद, १५/६

यत्प्राप्य च्युतेः भयं न विद्यते, शोको न भवति। निरोगः परमं धनं विश्वासश्च श्रेष्ठः बन्धुः। यथा—

आरोग्यपरमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सासपरमा जाती निब्बानं परमं सुखं॥

— धम्मपद, १५/८

अदृष्टनिर्वाणस्य शतवर्षस्यो दृष्टनिर्वाणस्य एकदिनात्मकमपि जीवनं श्रेष्ठम्। यथा—

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं॥

— धम्मपद, ८/१५

भगवता बुद्धेन धम्मपदे निगदितं यत् अनया संसारनौकया कर्माणि सिञ्च एवं सा लघु भविष्यति अर्थात् सत्कर्माणि कृत्वा अनासन्नभावेन च कर्माणि कृत्वा कर्मफलस्य भारं लघु भविष्यति। रागद्वेषयोः त्यागेनैव निर्वाणं लब्धुं शक्यते। यथा—

सिञ्च भिक्खु! इमं नावं सिता ते लहुमेस्सति।
छेत्वा रागञ्च दोसं च ततो निब्बानमेहिसि॥

— धम्मपद, २५/१०

प्रज्ञाविहीनाः पुरुषाः ध्यानाय समर्थाः न भवन्ति, ध्यान-विहीनाः

जनाश्च प्रज्ञावन्तो भवितुं न शक्नुवन्ति। अतः ध्यानेऽवस्थितः प्रज्ञावांचैव निर्वाणपदस्य सन्निकटं तिष्ठति। यथा—

नत्थि ज्ञानं अपञ्चस्स पञ्चा नत्थि अज्ञायतो।
यम्हि ज्ञानञ्च पञ्च च स वे निब्बानसन्निके॥

— धम्मपद, २५/१३

यः ध्यानी निर्मल आसनबद्धः कृतकृत्यः आसवरहितश्च, येन उत्तमार्थः निर्वाणं लब्धं स एव ब्राह्मण इति। यथा—

ज्ञायिं विरजमासीनं कतकिचचं अनासवं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/४

यः तृष्णा रहितः विज्ञाय संशयरहितः प्रविश्य लब्धामृतपद-निर्वाणः अस्ति स एव ब्राह्मण इति उच्यते। यथा—

यस्सालया न विज्जन्ति अज्जाय अकथकथी।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२९

दुःखानां विनाशाय आर्य आष्टाङ्गिको मार्ग उपदिष्टः। अनेन मार्गेण गमनेन व्यक्तिः सर्वदुःखानि विनाशयति निर्वाणपदं च प्राप्नोति। दुःखविरोध एव निर्वाण संज्ञकः। यथा—

एसोव मग्गो नत्थ ज्जो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हं पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥

— धम्मपद, २०/२

मार्गेष्वाष्टाङ्गिको मार्गः श्रेष्ठः। सत्येषु चत्वारि आर्यसत्यानि श्रेष्ठानि, धर्मेषु वैराग्यः श्रेष्ठः, द्विपदेषु मनुष्येषु चक्षुष्मान् (ज्ञान नेत्रधरः) बुद्धः श्रेष्ठः। यथा—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानं च चक्खुमा॥

— धम्मपद, २०/१

४.२.२ समणसुत्ते वर्णितं निर्वाणम्

जिनशासने 'मार्गः' 'मार्गफलं' च इति प्रकारद्वयं कथितम्। मार्गः मोक्षोपपायः। तस्य फलं मोक्षो निर्वाणं वा भवति। यथा—

मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो खलु सम्मत्तं मग्गफलं होइ णिव्वाणं॥

— समणसुत्तं, २/१६/२

मोक्षावस्था संकल्पविकल्पातीता। समस्तकलङ्काभावात्तत्र ओजो नास्ति। रागातीतत्वात् सप्तमनरक भूमेः ज्ञाने सत्यपि न तत्र कश्चिदपि खेदो विद्यते। यथा—

सव्वे सरा नियट्ठंति, तक्का जत्थ न विज्जइ।
महं तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयने॥

— समणसुत्तं, ३/३४/२९

यत्र न दुःखं, न सुखं, न पीडा, न बाधा, न मरणं, न च जन्म विद्यते तन्निर्वाण पदमुक्तम्। यथा—

ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं, ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
ण वि मरणं ण वि जणणं, तत्थैव य होइ णिव्वाणं॥

— समणसुत्तं, ३/३४/३०

यत्र न इन्द्रियाणां गतिः, नोपसर्गः, न मोहः, न विस्मयः, न निद्रा, न तृष्णा न च बुभुक्षा विद्यते तन्निर्वाणपदं मतम्। यथा—

ण वि इदिय उवसग्गा, ण वि मोहो विम्हमो ण णिद्राय।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तथेव य होइ णिव्वाणं॥

— समणसुत्तं, ३/३४/३१

यत्र न कर्म विद्यते न अकर्म विद्यते न चिन्ता, न आर्तरौद्रध्यानम्, न धर्म ध्यानं न च शुक्लध्यानं विद्यते, तन्निर्वाणपदं मतम्। यथा—

ण वि कम्मं णोकम्मं, ण वि चिंता णेव अट्टरुहाणि।
ण वि धम्मसुक्कज्ञाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाणं॥

— समणसुत्तं, ३/३४/३२

यत् महर्षयः प्राप्नुवन्ति, तत्स्थानं निर्वाणम् भवति, तच्च अबाधं
सिद्धिरूपं लोकाग्रस्थं क्षेमभूतं शिवः अनाबाधं च भवति। यथा—

निव्वाणं ति अवाहंते, सिद्धी लोगगमेव य।
खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो॥

— समणसुत्तं, ३/३४/३४

जिनेन्द्रदेवेन भणितम् यत् सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यग्चरित्रं चैते
मोक्षस्य मार्गाः सन्ति। सद्भिः इमे आचरणीयाः। यदि ते स्वाश्रिताः सन्
मोक्षदाः भवन्ति पराश्रिताश्च बन्धदाः भवन्ति। यथा—

दंसणणाणचरित्ताणि, मोक्खमग्गो ति सेविदव्वाणि।
साधूहि इदं भणिदं, तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा॥

— समणसुत्तं, २/१६/२

धर्मादि षड्द्रव्याणां तत्त्वार्थादीनां च श्रद्धानमेव सम्यग् दर्शनम्।
अङ्गानां पूर्वाणां च ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं तपसि प्रयत्नशीलता च सम्यक्
चरित्रमिति उच्यते। एतादृशो व्यवहारः मोक्षमार्गः। यथा—

धम्मादीसदहणं, सम्मतं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवंसि चरिया, बपहारो मोक्खमग्गो ति॥

— समणसुत्तं, २/१७/१

या आत्मा एतेषु त्रिषु समादधते अन्यत् च न किञ्चदपि करोति
न च किञ्चिद्हिनस्ति तदैव निश्चयनयेन मोक्षमार्ग इति उक्तः। यथा—

णिच्छयणयेण भणिदो, तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किञ्चि वि अन्नं, ण मुयदि सो भोक्खमग्गोति॥

— समणसुत्तं, २/१७/९

सम्यग्दर्शनं विना ज्ञानं न भवति। सम्यग् ज्ञानं विना चारित्रगुणाः

न भवन्ति चारित्रगुणान् विना च मोक्षो न भवति मोक्षं विना च निर्वाणं (अनन्तानन्दलाभः) न प्राप्यते। यथा—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुति चरणगुणा।

अगुणित्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

— समणसुत्तं, २/१७/४

यः सम्यग्दर्शनाद् भ्रष्टः स एव भ्रष्टः। दर्शनभ्रष्टः कदापि निर्वाणं न लभते।। चरित्रविहीनाः सम्यग्दर्शिनः तु कथमपि सिद्धिं प्राप्तुं शक्नुवन्ति किन्तु सम्यग्दर्शनं विना कदापि सिद्धिं न प्राप्नोति। यथा—

दंसणभट्ठा भट्ठा, दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाणं।

सिज्झति चरियभट्ठा, दंसणभट्ठा ण सिज्झति॥

— समणसुत्तं, २/१८/५

४.२.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

भगवतो बुद्धस्य समग्रदेशनायाः एकमात्रं लक्ष्यः निर्वाणमेवास्ति। धर्मस्य आदिः अन्तं च सर्वस्वं निर्वाणमेवास्ति। निर्वाणं दुःखतत्त्कारणानां च निवृत्तिः। इयमेव सर्वश्रेष्ठावस्था परमं पदं च। निर्वाणप्राप्त्यनन्तरं न किञ्चिदपि प्राप्तुम् अवशिष्यते। इयं परमशान्तेरवस्था अस्ति। अस्याम् अवस्थायाः पुरुषः यत् करोति तदेव पुण्यं तदेव कुशलं, किन्तु एतेषां कर्मणां फलं सः न भुनक्ति यतो हि एतेषां कर्मणां पृष्ठभूमौ रागो द्वेषः मोहस्तृष्णादिकाः क्लेशाः न भवन्ति।

हेतुप्रत्ययानामनुत्पादत्वात् निर्वाणम् अमृतम् असंस्कृतं अजरम् अमरमिति उच्यते। यद् उत्पत्तिवद् वस्तु तस्यविनाशं ध्रुवं मन्तव्यम्। निर्वाणं न उत्पद्यते अपितु केवलं विशिष्टमार्गैः प्राप्यतेऽतः तद् जरामरणधर्मा नास्ति। एतस्मादेव तन्नित्यम् अपि। तद् अनादि अनन्तं अप्रभवम् अस्ति। रूपस्वभाव-अभावात् तद् अरूपं सर्वप्रपञ्चेभ्यो विरहितत्वात् च निष्प्रपञ्चम् इति उच्यते। धम्मपदे निर्वाणस्य स्वरूपाकारविवेचनं नोपलभ्यते तथापि निर्वाणस्य पर्यायवाचिशब्दैः अस्य स्वरूपस्य अवबोधे

सौविध्यं प्रतीयते यथा—अमृतम् अजरमरम् अरूपम् नित्यं असाधारणं निष्प्रपञ्चम् अच्युतम् अत्यन्तम् असंस्कृतं लोकोत्तरं निर्वाणमित्यादि।

कल्पनाशब्दतर्कानां अविषयत्वात् निर्वाणमिदं अतर्क्यः गम्भीरः दुर्जयश्चोच्यते। तृष्णा निर्गतत्वात् इदं निर्वाणमुच्यते। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २/३)।

निर्वाणं परमार्थतः स्वभावभूतः धर्मोऽस्ति। धम्मपदे धर्मस्य दानं सर्वेषु दानेषु श्रेष्ठं मतम्। धर्मस्य मधुरता सर्वेषु मिष्टान्तेषु श्रेष्ठा अस्ति धर्मस्य आनन्दश्च सर्वेषु अपि आनन्देषु श्रेष्ठः मन्तव्यः। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, २४/२१)।

धम्मपदे निर्वाणं परमं सुखमिति उक्तम्। बुभुक्षा परमो रोगः, संस्कारः परमं दुःखं, एतद् यथार्थं विज्ञाय निर्वाणमेव परमं सुखम्। यथा—

जिधच्छा परमा रोगा, संखारा परमा दुखा।
एतं जत्वा यथा भूतं निव्वाणं परमं सुखं॥

— धम्मपद, १५/७

निर्वाणं प्राप्य भयं न विद्यते।

धम्मपदसमणसुत्तयोः निर्वाणस्य तुलनात्मकअध्ययनेन ज्ञायते यत् उभयोः ग्रन्थयोः निर्वाणस्य चर्चा विहिता। किन्तु धम्मपदे विमुक्तेः अवस्थाकृते निर्वाणपदस्य प्रयोगः कृतः किन्तु समणसुत्ते तदपेक्षया प्रायः मोक्ष इति पदस्य प्रयोगः प्राप्यते। उभयोः ग्रन्थयोः निर्वाणस्य सद्विश्वासः ज्ञानम् आचारविचारश्च प्राधान्येन विवेचिताः। उभयोः ग्रन्थयोः एतदपि उक्तं यत् तृष्णादिक्लेशानां निरोध एव निर्वाणपदवाच्यम्।

धम्मपदे मोक्षस्य निर्वाणस्य वा आर्य-आष्टाङ्गिक मार्गाः प्रतिपादिताः, समणसुत्ते च मार्गाः समुपदिष्टाः यैः मोक्षे लभ्यते। (द्रष्टव्यः— बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १०४)।

धम्मपदे आर्य आष्टाङ्गिकमार्गाः	समणसुत्ते मार्गाः
१. सम्यग् दृष्टिः	१. सम्यग्ज्ञानम्
२. सम्यक्सङ्कल्पः	
३. सम्यक् वाकः	
४. सम्यक् कर्मः	२. सम्यग् दर्शनम्
५. सम्यक् आजीवः	
६. सम्यक् व्यायामः	
७. सम्यक् स्मृतिः	३. सम्यक्चारित्रम्।
८. सम्यक् समाधिः	

४.३.० मन

मननं मनः मन्यते येन वा इति मनः। (द्रष्टव्यः— जैन दर्शनः : मनन और मीमांसा, पृष्ठ ४८७)। मनोऽपि अन्यतमं द्रव्यं। मनसा एव सुखदुःखे अनुभूयते। मनः मोक्षमार्गस्य प्रवेशद्वारं अस्ति। केवलं स मनस्कः प्राणी एव अस्य मार्गस्य अधिकारी इति। केवलं समनस्क प्राणीभिः एव सम्यक् दृष्टिः लब्धुम् शक्यते। ते च साधनया मोक्षमार्गं प्रति गमनस्य अधिकारिणः भवन्ति। सम्यक्दर्शनं प्राप्तुम् क्रोधादिकानां तीव्रतमानां आवेगानां संयमनम् आवश्यकम्। तत् च मनसा एव कर्तुम् शक्यते।

भारतीय दर्शने इच्छानिरोधस्य वासनादमनस्य वा स्वरः अत्यन्तं मुखरितः। इच्छानां दमनं इन्द्रियाणां वा वशीकरणं मनसः कार्यम्। मनः चंचलं मनुष्यः च स्वयमेव आत्मनः स्वामी भवति। मनसः दमनेन व्यक्तिः निर्वाणं प्राप्नोति। मनः वशीकृत्य मानवः अपरेषां कठोर मनसां अपि मनुष्याणां मनांसि विजयते। संसारे सर्वैः सार्धम् सद् व्यवहारः सत् कार्याणि च मनसि एव निर्भराणि भवन्ति।

४.३.१ धम्मपदे मनसः वर्णनम्

भगवतो बुद्धस्य कथनम् अस्ति यत् सर्वासां प्रवृत्तीनां उदयः मनसा एव भवति। सर्वाः प्रवृत्तयः मनोमयाः भवन्ति। यः सदोषमनसा आचरति भापते च दुःखं तं तथैवानुगच्छति यथा रथचक्रः अश्वपादानुगामी भवति। यश्च स्वच्छमनसा सभाचरति भापते च, सुखं तं छायेवानुसरति। यथा—

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पसन्नेन भासति, वा करोति वा।
ततो नं दुक्खमन्वेति चक्कं व अनपायिनी॥

— धम्मपद, १/१

ततो न सुखमन्वेति छाया" व अनपायिनी॥

— धम्मपद, १/२

कुमार्गे संलग्नः चित्तः सर्वाधिकमहितकरो भवति। सन्मार्गे रतश्चित्तश्च सर्वाधिकं हितकरो भवति। असन्मार्गरतश्चित्तः शत्रोः निन्दां करोति। असन्मार्गरतश्चित्तः शत्रोः निन्दां करोति सन्मार्गरतश्चित्तः पितृभ्यां बान्धवेभ्यः चापि अधिकतरं हितकरो भवति। यथा—

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी व पन पेरिनं।
मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो नं ततो करे॥
न तं माता पिता कयिरा अज्जे वापि च जातका।
सम्पापणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे॥

— धम्मपद, ३/१०/११

चित्तस्य दमनं अत्यन्तं सुखदायकं भवति। चित्तं स्वभावेन लघु भवति। दमितचित्तं सुखदायकं भवति। यथा—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ काम-निपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं॥

— धम्मपद, ३/३

दुर्गभ्यं चेतः निपुणः यथेष्टगामी भवति, तस्य च रक्षणमावश्यकं।
सुरक्षितं चेत एव सुखदायकं भवति। यथा—

सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थकाम-निपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं॥

— धम्मपद, ३/४

अस्थिरचेतः अविज्ञातसद्धर्मः चंचल श्रद्धः पुरुषः पूर्णप्रज्ञो भवितुं
नैव अर्हति। यथा—

अनवट्ठित्तस्स सद्धम्मं अविजानतो।
परिप्लवपसादस्स पज्जा न परिपूरति॥

— धम्मपद, ३/६

धम्मपदानुसारेण वैरेण वैरं न शाम्यति अतः द्रोहवैरे सर्वथा
परित्यज्य मैत्री भावनां मनसि निधाय शत्रुणा सममपि अशत्रुवत्
व्यवहरेत्। यथा—

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीधं कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥

— धम्मपद, १/५

चित्तश्चंचलः क्षणिकः दुर्निवारः दुर्निरोध्यः भवति। मेधावी
पुरुषः एतादृशं चित्तं धनुर्धरेण बाणमिव ऋजुं करोति। यथा—

फन्दनं चपलं चित्तं दुरक्खं दुन्निवारयं।
उजुं करोति मेधावी उसुकारो" व तेजनं॥

— धम्मपद, ३/१

चित्तसंयमः आवश्यकीयः यतोहि संयमितिचित्त एव मारस्य
बन्धनात् मुच्यते। यथा—

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं सज्जमेस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना॥

— धम्मपद, ३/५

यस्य चित्ते रागो नास्ति, यस्य चित्तो निर्दोषोऽस्ति, यः पापपुण्यातीतोऽस्ति तस्य जागृतपुरुषस्य भयो न भवति। यथा—

अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो।

पुञ्जपापपहीनस्स णत्थि जागरती भयं॥

— धम्मपद, ३/७

४.३.२ समणसुत्ते मनः

बन्धनमुक्तिदृशा मनसोऽपारशक्तिः मता। मनुष्य मोहं त्यजेत् सर्वान् इन्द्रियविषयांश्च क्षणभङ्गुरान् मत्त्वां मनः निर्विषयं कुर्यात् यतः उत्तमं सुखं प्राप्यताम्। यथा—

चइऊण महामोहं, विसए मुणिऊण भुगुरे सव्वे।

णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहह॥

— समणसुत्त, २/३०/४

यथा मानवशरीरे शीर्षः वृक्षे च तन्मूलमुत्कृष्टं मुख्यं वा भवति तथैव सदा समस्तधर्माणां मूलं ध्यानं भवति। यथा—

सीसं जहा सरीस्स, जहा मूलं दुमस्स य।

सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा ज्ञाणं विधीयते॥

— समणसुत्त, २/२९

स्थिरमध्यवसानं अर्थात् मानसिकी एकाग्रता एव ध्यानम्। यच्च चित्तस्य चांचल्यं तस्य रूपत्रयं वर्तते—भावना अनुप्रेक्षा चिन्ता च। यथा—

जं थिरमज्झवसाणं, तं ज्ञाणं जं चलंतयं चित्तं।

तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा व आहव चित्ता॥

— समणसुत्त, २/२९/२

यैः मनोवचनकामाः स्थिरीकृताः ते युक्ताः। येषां ध्याने चित्तस्य निश्चलता प्रतिष्ठिता तेषां मुनीनां ध्यानार्थं सङ्कुलानि ग्रामाणि शून्यमख्यं च समानानि तयोः न कोऽपि भेदस्तिष्ठति। यथा—

थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण ज्ञाणे सुनिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइष्ठो, सुण्णे रण्णे व ण विसेतो।।

—समणसुत्तं, २/२९/८

यथा जलयोगं प्राप्य लवणं विलीयते, तथैव निर्विकल्पक समाधौ लीनस्य योगिनः तस्य चिरसंचितशुभाशुभकर्माणि भस्मीकर्तुं समर्थ आत्मरूपोऽग्निः प्रकटीभवति। यथा—

लवण व्व सलिलजोए, ज्ञाणे चित्तं विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाणलो पयासई।

—समणसुत्तं, २/२९/३

यस्य चित्तमत्प्रकारकस्य ध्याने लीनम्, स आत्मध्यानी पुरुषः कपायोत्पन्नया ईर्ष्याया विपादेन शोकेन इत्येतैः मानसिक दुःखैर्न बाधितो भवति। यथा—

न कसायसमुत्थेहि य, वहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं।
ईसा-विसाय-सोगा-इएहिं, मताणोवगयचित्तो।।

—समणसुत्तं, २/२९/१९

समाधिं भावयन् तपस्वी श्रमणः इन्द्रियानुकूलेषु विषयेषु (शब्दरूपादिषु) कदापि राग भावं न कुर्यात्। प्रतिकूलविषयेषु च मनसापि द्वेषभावं न विधीयताम्। यथा—

जे इंदियाणं विसया मणुण्णा, न तेसु भावं निसिरे कमाइ।
न याडमणुण्योसुमां पि कुज्जा, समाहिकामे समणे तवस्सी।।

—समणसुत्तं, २/९/९

यः संसारस्य स्वरूपेण सुपरिचितः निसङ्गः निर्भयः आशारहितश्च, यस्य मनो वैराग्यभावनया युक्तं सैव ध्याने सुनिश्चलो भवितुमर्हति सम्यगवस्थानं लब्धुम् अर्हति। यथा—

सुविदियजगस्सभावो, निससंगो निब्भओ निरासो य।
वेखगभावियमणो, ज्ञाणमि सुनिच्चलो होई।।

—समणसुत्तं, २/२९/१०

४.३.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

एवमुभयोः तुलनात्मकाध्ययनेन ज्ञायते यत् मनः व्यक्तेरन्तः स्थितम् एकं साधनम् अस्ति येन सः स्वबाह्यसंसारं गृहणाति। मनः एका चेतना क्रिया अस्ति या आत्मप्रेरिता भवति यया च आत्मनो सम्बन्धेः कार्यं व्यवहारश्च संसारे भवति।

मनस एकाग्रतायाः महत्त्वम् उभयोरपि ग्रन्थयोः स्वीकृतम्। मनोनिग्रहमतीवावश्यकम्। धम्मपदेऽपि उक्तं यत् मनस एकाग्रतया व्यक्तिः ज्ञानी भवति शुभानि कर्माणि च करोति। समणसुत्ते अपि मनसो एकाग्रता दृढं प्रतिपादिता। मनः समाधिना मनसो एकाग्रता प्राप्यते।

इन्द्रियानिग्रहः आवश्यकः इति द्वयोरपि ग्रन्थयोः स्वीकृतः। धम्मपदे उक्तं यत् मनः संयमितुं इन्द्रियनिग्रहोऽनिवार्यः। एवमेव समणसुत्तेऽपि उक्तं यत् इन्द्रियाः एव शत्रुभूताः। मनस एकाग्रतायै इन्द्रियाणां वशीकरणम् अनिवार्यम्।

चित्तस्य चंचलता विषयेऽपि उभयोः ग्रन्थयोः उक्तं यत् चित्तं चंचलं क्षणिकं इतस्ततः भ्राम्यति। अस्मिन् सङ्कल्पविकल्पयोः उद्वेलनं भवति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, ३/१)।

मनसा प्राधान्यमपि उभयोः ग्रन्थयोः वर्णितम्। धम्मपदे सर्वप्रवृत्तीनामग्रणीं मन इति उक्तम्। मनसा कृतं आचरणं शुद्धं भवति विना मनसा कृतं आचरणम् अशुद्धं दुःखदं च भवति। एवमेव समणसुत्ते अपि मनः प्रधानं मतम्। यथा मानवशरीरे शिरः मुख्यं तथैव धर्मस्य मूलं कारणं ध्यानं भवति। एवम् उभयोरपि मनः प्राधान्यं स्वीकृतम्। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १/१; समणसुत्तं, २/२९/८)।

मनसः संयमोऽपि अनिवार्यः इति उभयोः ग्रन्थयोः स्वीकृतम्। मनोदमनम् आवश्यकम्। अनेन सुखं लभ्यते। दमितं मनः अतीव सुखदायकं भवति।

एवम् उभयोः ग्रन्थयोः तुलनात्मकं अध्ययनेन ज्ञायते यत् मनः

जडचेतनयोः योजिका शृङ्खला अस्ति। मनसि एव अविद्या तिष्ठति। द्वयोः ग्रन्थयोः मनः केन्द्रविन्दुरूपेण विवेचितम्। नैतिकजीवनस्य कृते मनः महत्त्वपूर्णम्। एवं एतद् विषयो उभयोः ग्रन्थयोः समानं मतम्।

४.४.० कर्मः

कर्मशब्दः अनेकार्थकोऽस्ति। साधारणतया कर्मशब्दस्य अर्थः क्रिया अस्ति। प्रत्येक प्रगतिः मानसिकी शारीरिकी वा क्रिया प्रोच्यते। (द्रष्टव्यः—जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१, पृष्ठ ३०४)।

मीमांसा दर्शने यज्ञ-यागादि क्रियाः एव कर्मशब्देन कथिताः। गीतायाम् यज्ञ-यागादीनां स्मार्तकर्मण्यं वा संकुचितेऽर्थे कर्मशब्दस्य प्रयोगो नास्ति, प्रत्युत सर्वेषां क्रिया-व्यापाराणां व्यापकेऽर्थे प्रयुक्तोऽस्ति। (द्रष्टव्यः—गीतारहस्य, पृष्ठ ५५-५६)। मनुष्यः यत्किञ्चित् करोति अथवा कस्यचित् कर्मणः अकरणस्य मानसिक-संकल्पं आग्रह वा करोति तेषां सर्वेषां शारीरिक-मानसिक-प्रवृत्तयः भगवद्गीतानुसारम् कर्माणि एव सन्ति। (द्रष्टव्यः—गीता, ५/८-११)।

बौद्ध विचारकैः अपि कर्म-शब्दस्य प्रयोगः क्रियार्थे कृतः। बौद्ध-दर्शने यद्यपि शारीरिक-वाचिक-मानसिक-क्रियाणाम् अर्थे कर्मशब्दस्य प्रयोगः कृतः तथापि तत्र केवलं चेतनायाः एव प्रमुखता स्वीकृता। चेतना एव कर्मशब्देन कथिता। चेतनया एव काय-वाङ्-मनोभिः कर्म करोति नरः। (द्रष्टव्यः—अंगुत्तर-निकाय-उद्धृत बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४६३)।

जैन-दर्शनेऽपि क्रिया एव कर्मकथ्यते, शारीरिक-वाचिक-मानसिक क्रियाः शास्त्रीय-भाषायाम् योगः कथ्यते। किन्तु जैन-परम्परायाम् कर्म-शब्दस्य अयं क्रियापरकः अर्थः कर्मशब्दस्य आशिकीम् एव व्याख्यां करोति। क्रियायाः हेतोः विचारणात् ज्ञातम् यत् आचार्य देवेन्द्र-सूरिः कर्म-परिभाषां कुर्वन् लिखति-जीवक्रियायाः हेतुः कर्म अस्ति। [द्रष्टव्यः—कर्म विपाक (कर्मग्रन्थ पहला)]।

पण्डितः सुखलालः कथयति यत्-मिथ्यात्व-कषायादिभिः
हेतुभिः जीवेन यत् क्रियते तदेव कर्म कथ्यते। यथा-

अयसा 'व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादित।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं॥

- धम्मपदं, १८/६

साधारण-रूपेण कर्मशब्देन क्रिया, क्रियायाः, उद्देश्यम्, तस्याः
फलविपाकः एतेत्रयोऽप्यर्थाः गृह्यन्ते। कर्मशब्दे क्रियायाः उद्देश्यम्
क्रिया, तस्याः फल-विपाकपर्यन्तानि सर्वाणि तथ्यानि सन्निहितानि
सन्ति।

कर्माणि द्विविधानि भवन्ति-(१) कुशल-कर्माणि, (२)
अकुशल-कर्माणि।

४.४.१ धम्मपदे कर्म

मनुष्यः स्वकृत-कर्मभिरेव दुर्गतिम् लभते। यथा लोह-मलम्
लौहात् एव समुपद्यते तम् लौहम् एव भक्षयति, तथैव सदाचारोल्लंघन-कर्तुं
नरस्य स्वकृतानि एव कर्माणि तम् दुर्गतिम् प्राप्नुयन्ति। यथा-

अयसा व मलं समुट्ठितं तदुट्ठाय तमेव खादित।
एवं अतिधोनचारिनं सानि कम्मानि नयन्ति दुग्गतिं॥

- धम्मपदं, १८/६

सर्वासु अवस्थासु मन एव अग्रगामी अस्ति। मनः प्रधानमस्ति
सर्वाणि कर्माणि च मनोमयानि सन्ति। यदा स्वं मनः शुभम् अशुभं वा
भवति तदा कायिक वाचिक-कर्माणि अपि तदनुसारम्, एव शुभानि
अशुभानि वा भवन्ति। (द्रष्टव्यः- धम्मपद, १/१)।

केचित् स्व-पाप-कर्मभिः गर्भात् समुत्पद्य नरकम् यान्ति, केचित्
च सुगति-प्रदम् स्वर्गम् यान्ति, अनाभावाश्च परिनिर्वाणम् प्राप्नुवन्ति।
यथा-

गब्भमेके उप्पज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा॥

— धम्मपद, ९/११

नरः पापकर्मभिः न मुच्यते। आकाशे, समुद्रमध्ये, पर्वत-विवरे वा संसारे किमपि एवं विधं स्थानम् नास्ति यत्र गत्वा नरः पापकर्मभिः प्राण-रक्षाम् कुर्यात्। यथा—

न अन्तलिक्खे न समुद्धमज्झे न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्पा॥

— धम्मपद, ९/१२

पुण्यं कार्यं शीघ्रं कुर्यात्। पापात् चित्तं निवारयेत्। पुण्यकार्यं तन्द्रितं कुर्वतः पापे मनः रमते। पुण्यं कार्यं पुनः पुनः कुर्यात् पापं न। पापस्य संचयः दुःखदायकः। पुण्यस्य संचयः सुखदायकः भवेत्। सर्वः पापं न कुर्यात् पुण्यस्य संचयात्स्वयमेव चित्तं परिशुद्धम् एतद् बुद्धस्य शिक्षा अस्ति। यथा—

अभित्थरेथ कल्याणे पापा चित्तं निवारये।
दन्धं हि करोतो युज्जं पापस्मिं रमते मनो॥
पुज्जश्चे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुन प्पुनं।
तम्हि छन्दं कयिराथ सुखो पुज्जस्स उच्चयो॥

— धम्मपद, ९/१, ३

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानं सासनं॥

— धम्मपद, १४/५

४.४.२ समणसुत्ते (श्रमण-सूत्रे) कर्म

नैतिक-जीवन-दृष्ट्या तानि सर्वाणि कर्माणि यानि स्वार्थवशात् अज्ञानवशात् घृणावशात् वा अन्येषाम् अपकार-दृष्ट्या क्रियन्ते तानि पापकर्माणि सन्ति। एवम् अशुभकर्माणि कुशलानि शुभ-कर्माणि च सुशीलानि प्रोच्यन्ते। यथा—

कम्ममसुहं कुसीलं, सुहकम्मं चावि जाण वसुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं, जं संसारं पवेसेहि॥

— समणसुत्तं, २/१६/९

कर्म जन्म-मरण-मूलमस्ति। जीवः कर्मकरणे स्वतन्त्रः अस्ति किन्तु कर्म-फलोदयवेलायाम् कर्मफलभोगे कर्माधीनः अस्ति। यथा कश्चित् पुरुषः स्वेच्छया वृक्षम् आरोहति किन्तु प्रमाद वशात् अधः पतन-समये परवशः भवति। यथा—

कम्मं चिणन्ति सवसा, तस्सुदयम्भि उपरव्वसा होति।
रुक्खं दुरुह इ सवसो, विगसइ स परव्वसो तत्तो॥

— समणसुत्तं, १/६/५

कुत्रचित् जीवाः कर्माधीनाः भवन्ति। कुत्रचिच्च कर्माणि जीवाधीनानि भवन्ति। यथा कुत्रचित् धनी बलवान् भवति, कुत्रचिच्च ऋणी बलवान् भवति। यथा—

कम्मवसा खलुजीवा, जीववसाइं कहिंपि कम्माइं।
कत्थइ धणि ओ बलवं, धारणिओ कत्थइ बलबं॥

— समणसुत्तं, १/६/६

जाति जनाः, मित्रवर्गाः पुत्राः बान्धवाश्च नरस्य दुःखं न विभजन्ति नरः स्वयम् एकाकी एव दुःखम् अनुभवति। यतः कर्म कर्तारम् एव अनुगच्छति। यथा—

न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयंपच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजा, कम्म॥

— समणसुत्तं, १/६/४

रागद्वेषौ कर्म-बीजे स्तः। कर्म मोहात् उत्पद्यते। यथा—

रोगो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयति॥

— समणसुत्तं, १/८/१

कर्माणि यदा आत्मना सह संबध्यन्ते तदा तानि अष्टधा भवन्ति।
(१) ज्ञानवरणीयं कर्माणि (२) दर्शनावरणीय-कर्माणि, (३)
वेदनीय-कर्माणि, (४) मोहनीय-कर्माणि, (५) आयुःकर्माणि, (६)
नाम-कर्माणि, (७) गोत्रकर्माणि, (८) अन्तराय कर्माणि। यथा—

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।

वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥

—समणसुत्तं, १/६/१०

समणसुत्ते (श्रमण-सूत्रे) सम्यग्ज्ञानम् (प्रज्ञा) सम्यक् चारित्रम्
(शीलम्) च संबरान्तर्गतम् निर्जरान्तर्गतम् चास्ति। सर्वेषां जीवानां कृते
संग्रहणीयाः कर्म-पुद्गलाः षट्सु दिक्षु सर्वेषु आकाश-प्रदेशेषु च
विद्यमानाः सन्ति। ते सर्वे कर्म-पुद्गलाः आत्मनः सर्व प्रदेशैः सह
सम्बद्धाः सन्ति। यथा—

सव्वजीवाणकम्मं तु, संगहे छछिसाणयं।

सव्वेसु वि पये सेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं॥

—समणसुत्तं, ३/३६/७

जनः सुख-दुःखात्मकम् शुभाशुभं वा यत् कर्म करोति तैरेव
कर्मभिः सह स परभवम् प्रयाति। यथा—

तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।

कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं॥

—समणसुत्तं, ३/३६/८

जन शुभकर्मणाम् तिस्रः लेश्याः सन्ति—(१) पीताः, (२)
पद्माः, (३) शुक्लाः—इमाः तिस्रोऽपि धर्मलेश्याः शुभलेश्याश्च सन्ति।
एताभिः लेश्याभिः जनः विविधासु सुरातिषु उत्पद्यते। यथा—

नेऊ पम्हा सुक्का, तिण्णि वि एयाओ धम्मलेसा नो।

एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइ उववज्जई बहुसो॥

—समणसुत्तं, २/३१/५

कार्याकार्य-ज्ञानम्, श्रेयाश्रेय-विवेकः, सर्वान् प्रति समभावः, दयादान प्रवृत्तिः-एतानि पीतलेश्यायाः तेजोलश्यायाः वा लक्षणानि सन्ति। यथा-

जाणइ कज्जा कज्जं, सेयमसेयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो यमिदू, लक्खणमेयं तु ते उस्स॥

- समणसुत्तं, २/३१/१२

त्याग-शीलता, परिणामेषु भद्रता, व्यवहारे प्रामाणिकता, कार्ये ऋतुजा, अपराधिषु क्षमाशीलता, साधु-गुरुजिनेषु पूजा-सेवा-तत्परता-इमानि पद्मलेश्यायाः लक्षणानि सन्ति। यथा-

चाग्गी भछो चोक्खो, अज्जवकम्मो य खमदि बहुगपि।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु धम्मस्स॥

- समणसुत्तं, २/३१/१३

पक्षपातस्य अकरणम्, भोग-निदानाकरणम्, सर्वेषु समदर्शिता, राग-द्वेष-स्नेह-त्यागः-इमानि शुक्ललेश्यायाः लक्षणानि सन्ति। यथा-

ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदायं समोयसव्वेसि।
णत्थि य रामछोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स॥

- समणसुत्तं, २/३१/१४

४.४.३ तुलनात्मकमध्ययनम्

धम्मपदे भगवता बुद्धेन चिन्तकमैव स्वीकृतमस्ति। शरीरः वाक् मनः एतानि त्रीणि कर्मद्वाराणि सन्ति। सर्वाणि कर्माणि एभिरेव द्वारैः सम्भवन्ति। मनसः सम्बन्धः सर्वैः सह अस्ति। सर्वासु अवस्थासु मनः अग्रगामि अस्ति, प्रधानम् अस्ति, सर्वाणि कर्माणि मनोमयानि सन्ति। यदा स्वमनः शुभं अशुभं वा भवति तदा कायिक-वाचिक-मानसिक कार्याणि (कर्माणि) अपि तदनुसारम् अशुभानि वा भवन्ति। (द्रष्टव्यः- धम्मपद, १/१)।

मनुष्यः स्वकर्मभिरेव दुर्गतिं गच्छति। सत्कर्मकरणेन सुगतिम्

असत्कर्मकरणेन च दुर्गतिम् अधिगच्छति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १८/६)।

समणसुत्ते (श्रमणसूत्रे) अपि प्रोक्तम् यत्-नैतिक-जीवन-दृष्ट्या तानि सर्वाणि कर्माणि यानि स्वार्थवशात् घृणावशात् अज्ञानवशात् वा परोपकार दृष्ट्या क्रियन्ते तानि पापकर्माणि सन्ति। एवं अशुभ-कर्माणि कुशीलनाम्ना शुभकर्माणि च सुशील नाम्ना प्रोच्यन्ते। (द्रष्टव्यः— समणसुत्त, २/१६/९)।

समणसुत्ते (श्रमण-सूत्रे) कर्म जन्म-मरणयोः मूलम् प्रोक्तम्। जीव-कर्म करणे स्वतंत्र कोस्ति किन्तु कर्मफलोदयवेलायाम् कर्मफलभोगे तत्कर्मपरतरेऽस्ति। यथा कश्चिज्जनः स्वेच्छया वृक्षम् आरोहति ततः प्रमादवशात् अधः पतन समये परवशो भवति। (द्रष्टव्यः— समणसुत्त, १/६/५)। क्वचित् जीवाः कर्महीनाः भवन्ति क्वचिच्च कर्माणि जीवाधीनानि भवन्ति। यथा क्वचित् धनी बलवान् भवति क्वचिच्च ऋणी बलवान् भवति।

ज्ञातिजनाः, मित्रवर्गाः, पुत्राः बान्धवाश्च तस्य दुःखं न विभजन्ति। सः स्वयम् एकाकी एव दुःखम् अनुभवति।

रागद्वेषौ कर्मबीजे स्तः। कर्म मोहात् उत्पद्यते। कर्माणि यदा आत्मना सह सम्बधितानि मुख्यरूपेण अष्टधा परिवर्तन्ते। एवं धम्मपदं अपि वर्णितम् यत् कर्मविपाक-परम्परया इदं संसारं-चक्रम् परिवर्तते कर्मणा पुनर्जन्म भवति एवं संसारः प्रवर्तते। कर्मणः विपाकस्य च प्रवर्तने बीजवृक्षवत् कस्यापि पूर्ववर्तिता न ज्ञायते। बौद्ध मतानुसारम् कस्मिन्नपि बीजे दग्धे तद् बीज-दृष्ट्या बीज-वृक्ष-परंपरा समाप्यते। तथैव जनस्य राग-द्वेष-मोहानां विनाशे सति तस्य कर्म-विपाक-परम्परायाः समाप्तिर्भवति। यदवधि पापफलं प्राप्यते तदवधि पापी अपि पापं अशुभं न मन्यते। यदा च पापफलं प्राप्यते तदा सः पापम् अशुभम् जानाति।

पापकर्मकारिणः नरकं गच्छन्ति पुण्यकर्मकारिणश्च स्वर्गं गच्छन्ति।

उभयोः ग्रन्थयोः तुलनया इदं प्रतीयते यत् उभयोः अपि लेश्ययोः कर्मवादं प्रति विश्वासभावनास्ति। जीवः शुभाशुभकर्मभिरेव सुख-दुःखान्यनु भवति। एतानि कर्माणि यदा आत्मना सह संयुक्तानि भवन्ति तदा तस्य स्वभावं दूषयन्ति। आत्मा स्वभावं परित्यज्य विभावे परिणमते। यतः सः अन्य कर्मभिः सह संयुक्तो भवति। एवं जीवः अनादि कालतः कर्म-परम्परया बद्धः अस्ति।

धम्मपदानुसारेणापि संसारः विचित्रता-सत्त्वकर्मभिः उद्भूतोऽस्ति। सत्त्वं यदा निज-पुरातन-कर्माणां फलम् अनुभवति तदा तत्क्षणे जीवस्य चित्ते राग-द्वेषमोहादयो भावाः उत्पद्यन्ते। एवम् अनादिकालतः कर्मणां कर्मफलस्य च धारा प्रवाहिता वर्तते।

धम्मपदे सत्त्वस्य कर्मसु कर्मफलेषु च केनापि रूपेण ईश्वरस्य कारणात् स्वीकृता। उभयोः अपि ग्रन्थयोः कर्मसम्बन्धे भेदोऽप्यस्ति। धम्मपदे कर्म चेतनारूपम् समणसुत्ते च कर्म पौद्गलिक रूपम् स्वीकृतम्। धम्मपदे कर्म कस्यचित् कर्तुः व्यापार रूपम् न स्वीकृतम्, समणसुत्ते च कर्म जीव व्यापाररूपम् स्वीकृतम्।

४.५.० निवृत्तिमार्गः प्रवृत्ति-मार्गश्च

साधारणतया निवृत्तेः अर्थः पृथक्भावः प्रवृत्तेः चार्थः प्रवर्तनम् (कार्य-संलग्नता) अस्ति।

निवृत्तिशब्दः 'नि' 'वृत्ति' अनयोः द्वयोः शब्दयोः योगात् निष्पन्नोऽस्ति। कायिक-वाचिक-मानसिक-क्रियाः एव वृत्तिशब्देनोच्यन्ते।

वृत्तिना सह संयुक्तो 'नि' उपसर्गः निषेध-सूचकोऽस्ति। एवम् कायिक-वाचिक-मानसिक-क्रियाणाम् अभावः, तासां त्यागः तासां न्यूनता कर्म-संन्यासः प्रोच्यते। एवम् निवृत्तेः अर्थः जीवनात् पलायनमस्ति, मानसिक-वाचिक-कायिक-कर्मणाम् निष्क्रियतास्ति। किन्तु भारतीयेषु आचार-दर्शने कोपि निवृत्तिं निष्क्रियतायाः अर्थे न स्वीकरोति। यतः कर्मक्षेत्रे कायिक-वाचिक-मानसिक-क्रियाणां

पूर्ण-निष्क्रियता असम्भवास्ति। (द्रष्टव्यः—जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ १२०-१२१)।

जैन साधनायाः लक्ष्यम् शुद्धाध्यात्मिक-ज्ञानदशातिरिक्तम् समस्त कायिक-वाचिक-मानसिक-कर्मणां पूर्णनिवृत्तिरस्ति। किन्तु व्यवहारक्षेत्रे ईदृशी निष्क्रियता कदापि सम्भवां नास्ति। यावत् शरीरमस्ति तावत् शरीर-धर्माणां निवृत्तिः सम्भवा नास्ति इति तन्मतमस्ति। जीवनाय प्रवृत्तिः नितान्तमावश्यकी अस्ति, किन्तु मनोवाक्-कायानामशुभ-प्रवृत्तिं निवार्य शुभ-प्रवृत्तौ संयोजनमेव साधनायाः वास्तविक-मार्गोऽस्ति। (द्रष्टव्यः—जैन बौद्ध तथा गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-२, पृष्ठ १२२)।

भगवतो बुद्धस्य बोधिलाभानन्तरम् कृतानि संघ-प्रवर्तनस्य लोक-मंगलस्य च कार्याणि स्पष्टतया सूचयन्ति यत् लक्ष्य-प्राप्तावपि सत्याम् नैष्कर्म्य-जीवनम् अपेक्षितं नास्ति। बोधिलाभानन्तरं स्वयं बुद्धोऽपि उपदेश करणे अनुत्सुकः आसीत् किन्तु पश्चात् सः इमं निश्चयम् परित्यज्य लोके-मंगलाय प्रवृत्तोऽभवत्। (द्रष्टव्यः—विनयपिटक, महावग्ग, १/१/५)।

४.५.१ धम्मपदे निवृत्तिमार्गः प्रवृत्तिमार्गश्च

यो बुद्धं, धर्मं, संघं च शरणं गतोऽस्ति, यः (१) दुःखम्, (२) दुःखस्य उत्पत्तिम्, (३) दुःखस्य निरोधम्, (४) दुःखेभ्यो मुक्तिदायकम् आर्याष्टाङ्गिक-मार्गम् सम्यक्-प्रज्ञया-दृष्टवान्। एतदेव रक्षादायकम् शरणमस्ति, एतदेवोत्तमं शस्त्रमस्ति, एतदेव शस्त्रं प्राप्य सर्व-दुःखेभ्यो मुक्तो भवति। यथा—

यो च बुद्धं च धम्मं च संघं च शरणं गतो।

चत्तारि अरियसच्चानि सम्पपज्जायपस्सति॥

दुक्खं दुक्खसमुत्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।

अरियज्जट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं॥

एतं खो सरणं खेमं एतं सरण्यमुत्तमं।

एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खापमुच्चति॥

— धम्मपद, १४/१२, १३, १४

येन अर्हत्वं प्राप्तं तस्मै किमपि पदम् शेषम् (अलभ्यम्) नास्ति। त्वं अविरतम् अनेक-जन्मपर्यन्तम् संसारे परिभ्रमन् आसीः। तृष्णा-तृप्तिम् अन्विष्यन् पुनः पुनः दुःखमय-जन्म-मरण-चक्रे अपतः। अधुना त्वं दृष्टोऽसि, त्वं गृहम् न निर्मास्यसि। तव सर्व बन्धनानि भग्नानि। गृहशिखरम् निपतितम्। चित्तं संस्कारहीनं जातम्। अर्हता प्राप्ता। यथा—

अनेकजातिसंसारं सन्धा विस्सं अनिब्बिसं।

गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुन प्पुनं॥

गहकारका दिट्ठोसी पुन गेहं न काहसि।

सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं॥

विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥

— धम्मपद, ११/८, ९

बुद्धानां जन्म सुखदायकमस्ति। सद्धर्मोपदेशः संघे एकता च सुखदायिकास्ति। एकता युक्तम् तपः सुखदायकम् अस्ति। एवम् बुद्धेन शुभा प्रवृत्तिः प्रारब्धा।

४.५.२ समणसुत्ते निवृत्तिमार्गः प्रवृत्तिमार्गश्च

आत्मा एव सुख-दुखयोः कर्ताऽस्ति, विकर्ताऽस्ति। सद्-वृत्तौ स्थितः आत्मा एव निजं मित्रमस्ति दृष्टप्रवृत्तौ स्थितिः आत्मा एव निजः शत्रुरस्ति। यथा—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य दुहाण य।

अप्पा मित्तममित्तं, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥

— समणसुत्तं, १/१०/२

आत्मविजयः कर्तव्यः। आत्मविजयः एव अतिदुष्करः अस्ति। आत्मविजेता एव इहलोके परलोके च सुखी भवति। यथा—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुदमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य।।

— समणसुत्तं, १/१०/६

संयमेन तपसा च आत्म-विजयः प्राप्यते। बन्धन-वधाभ्याम् अहं परैः प्रताडितो भवेयम् इदम् उचितम् नास्ति। यथा—

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य।
माडहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य।।

— समणसुत्तं, १/१०/७

एकतः निवृत्तिः अपरतश्च प्रवृत्तिः कर्तव्या असंयमात् निवृत्तिः कर्तव्या संयमे च प्रवृत्तिः कर्तव्या। यथा—

एगओ विरई कुज्जा, एगओ यपवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।।

— समणसुत्तं, १/१०/८

४.५.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपद-समणसुत्तयोः द्वयोरपि तुलनात्मकेन अध्ययनेन इदं ज्ञायते यत् आत्मा एव सुख-दुःखयोः कर्तास्ति, विकर्तास्ति एवं समणसुत्ते प्रोक्तमस्ति।

धम्मपदे प्रोक्तमस्ति यत् बुद्धानां जन्म सुखदायकमस्ति, संघे एकता सुखदायिकास्ति, तपः सुखदायकमस्ति। इयम् एका शुभा प्रवृत्तिः प्रारब्धास्ति।

अतः उभयोरपि ग्रन्थयोः निवृत्ति-प्रवृत्तयोः उभयोरपि समानमहत्त्वम् वर्णितमस्ति। समणसुत्ते निवृत्ति-प्रधानायाः प्रवृत्तेः वर्णनमस्ति। धम्मपदे च अपि निवृत्यात्मक-प्रवृत्तेः वर्णनमस्ति।

निवृत्तिप्रवृत्ति उभे अपि स्व-स्व-मर्यादासु स्थितानि तिष्ठन्ति। यत्र एकतः सामाजिक-विकासे लोक-हिते सहायिका भवति तत्र अपरतः लोकम् आध्यात्मिक विकासाभिमुखं नयति। अशुभान्निवृत्तिः शुभे

प्रवृत्तिरेव नैतिकाचरणस्य वास्तविकमार्गोऽस्ति। (द्रष्टव्यः— समणसुत्त, १/१०/८)।

४.६.० दुःखम्

बौद्धपरम्परा संसारं दुःखमयं स्वीकरोति। एवमेव जैन परम्परायाम् अपि दुःखस्य वर्णनं कृतं वर्तते।

४.६.१ धम्मपदे दुःखम्

धम्मपदे कथितम्—प्रियजनेषु संगः न करणीयः अप्रियाणाम् अपि। प्रियजनानाम् अदर्शनम् अप्रियाणां दर्शनं दुःखदं भवति। अतः दुःखम् अस्ति, दुःखं सत्यम् अस्ति, तथ्यम् अस्ति अन्यथा नास्ति। यथा—

मा पियेहि समागच्छि अप्पियेहि कुदाचन।
पियानं अदस्सनं दुक्खं अप्पियानं च दस्सनं॥

— धम्मपद, १६/२

धम्मपदे भगवता बुद्धेन कथितं रागेण समः अग्निः नास्ति द्वेषसमः मलं नास्ति। पंचस्कंधसमं दुःखं नास्ति निर्वाणतः श्रेष्ठतरं सुखं नास्ति। यथा—

नत्थि रागसमो अग्नि नत्थि दोससमो कलि।
नत्थि खन्धसमा दुक्खा नत्थि सन्तिपरं सुखं॥

— धम्मपद, १५/६

धम्मपदे इदमपि उपदेशितम्—बुभुक्षा परमरोगः, संस्कारः परम् दुःखम् इति यथार्थं ज्ञात्वा निर्वाणः महत् सुखम् इति स्वीक्रियते। यथा—

जिघच्छा परमा रोगा, सांखारा परमा दुखा।
एवं जत्वा यथाभूतं निब्बानं परमं सुखं॥

— धम्मपद, १५/७

धम्मपदे काम भोगः दुःखं वर्तते इति कथितम्। यदि कार्षापण वर्षा भवेत तथापि मनुष्याय काम तृप्तिः न भवितुं शक्नोति। सर्वकामः अल्पवादः दुःखरूपः भवति। (द्रष्टव्यः— धम्मपद, १४/८, ९)।

आर्याणां दर्शनं सुन्दरं भवति, तैः सह निवासः सुखदः भवति।
मूर्खाणां दर्शनेन मनुष्यः सदैव दुःखी भवति। यथा—

साधु दस्सनमरियानं सन्निवासो सदासुखो।
अदस्सनेन बालानं निच्चमेव सुखी सिया॥

— धम्मपद, १५/१०

४.६.२ समणसुत्ते दुःखम्

अस्मिन् दुःखबहुल संसारे किं तथा कर्म यस्मिन् दुर्गतिः नास्ति।
यथा—

अधुवे असासयम्मि, संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्जत तं कम्मयं, जेणाऽहं दुमाइं न गच्छेज्जा?

— समणसुत्तं, १/५/१

कामभोगाः क्षणिकाः चिरकालिकं दुःखं च ददति, संसार-
मुक्तिविरोधिनः अनर्थानां च खानयः सन्ति। यथा—

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

— समणसुत्तं, १/५/२

यथा कदली वृक्षे बहुशोधनेऽपि सारः न दृश्यते तथैव
इन्द्रियविषयेषु सुखं न दृश्यते। यथा—

सुट्ठवि मग्गिज्जंतो, कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो।
इंदिअविसएसु तहा, नत्थि सुहं सुट्ठ विगविट्ठं॥

— समणसुत्तं, १/५/३

सुखं परमार्थतः दुःखमेव अस्ति। सुखं क्षणिकम् परन्तु अस्य
परिणामः दारुणः भवति अतः सुखात् दूरे निवासः उचितः। यथा—

नरबिबुहेसरसुक्खं, दुक्खं परमत्थओ तयं विंति।
परिणामदारुणमसासयं च जं ता अलं तेण॥

— समणसुत्तं, १/५/४

जन्म, वृद्धावस्था, रोगः, मृत्युः दुःखप्रदं भवति। संसारः दुःखरूपः यस्मिन् जीवाः क्लेशम् अनुभवन्ति। यथा—

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगो य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ की सन्ति जंतवो॥

—समणसुत्तं, १/५/११

गुरु वृद्धजनानां सेवा, अज्ञानी जनानां सम्पर्कात् दूरी, स्वाध्याय करणम् एकान्तवासः, सूत्रस्य अर्थस्य च सम्यक्चिन्तनम् धर्मधारणम् इदं सर्वं मुक्तिसाधनम्। यथा—

तस्सेस मग्गो गुरुविद्वसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिवेसणा य, सुत्तथ संचिंतणया धिई य॥

—समणसुत्तं, २/२१/३

यथा भवान् दुःखप्रियः नास्ति तथैव सर्वेभ्यः जीवेभ्यः दुःखानि प्रियाणि न सन्ति इति ज्ञात्वा सादरं सावधानं स्वदृष्ट्या सर्वेषु दयां कुर्वन्तु। यथा—

जह ते न पिअं दुक्खं, जाणिअ एमेव सव्वजीवाणं।
सव्वायरमुवउत्तो, अत्तोवम्मेण कुणसु दयं॥

—समणसुत्तं, १/१२/४

४.६.३ तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपद-समणसुत्त-ग्रन्थद्वये सम्पूर्णजगत् दुःखमयं कथितम्। दुःखानाम् उत्पत्तिकारणं तृष्णा वर्तते। ग्रन्थद्वये अस्य प्रधानता प्रस्तुता।

धम्मपदे दुःखात् मुक्तिमार्गः आर्य आष्टांगिकः कथितः परन्तु समणसुत्ते सम्यक्ज्ञानं सम्यक्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च मुक्तिमार्गः कथितः। एवं ग्रन्थद्वये अधिकांशतः समानता एव दृश्यते।

४.७.० समत्व योगः

जैन धर्मे नैतिकः आध्यात्मिक साधनामार्गस्य समत्वयोगः कथितः। एतदर्थं परिभाषिकशब्दः सामयिकः कथितः। सामयिकशब्दः 'सम' उपसर्ग-पूर्वकम् अयधातुना विनिर्मितः। अय धातोः अर्थत्रयम्-ज्ञानम्, गमनम्, प्रापणं च। ज्ञानशब्दः बुद्धिविवेकस्य, गमनशब्दः क्रिया आचरणस्य, प्रापणशब्दः, प्राप्तिः उपलब्धि द्योतकः। सम उपसर्गः तस्य सम्यकत्वस्य उचिततायाश्च बोधकः। सम्यक् प्राप्तिः सम्यकत्वम् वा सम्यकदर्शनम् वर्तते। ज्ञान शब्दे दर्शनम् अपि अन्तर्निहितम्। सम शब्दस्य अर्थः रागद्वेष रहित स्थितिः अपि वर्तते। अय धातोः प्राप्ति परकस्य अर्थे तात्पर्यं भविष्यति रागद्वेषातीत अवस्था प्राप्तिः यत् प्रकारान्तरेण मुक्तिसूचका। अनेन समत्वयोगः एकतः सम्यक् ज्ञानं सम्यक् दर्शनं सम्यक् चारित्रं त्रिविध साधयापथं समाहितं करोति, द्वितीयतः अनेन त्रिविध साधनापथेन सह साध्या मुक्तिः अपि समन्विता वर्तते।

आर्य महापुरुषः समभावः धर्मः कथितः। (द्रष्टव्यः-आचारांग, १/८/३/२)। साधकः जीवने मरणे समभावयुतः स्यात्। (द्रष्टव्यः-आचारांग, १/८/८/४)। साधकः अंतरंगे सदैव अविचलः समाहितः भवेत्। (द्रष्टव्यः-आचारांग, १/८/८/१४)।

४.७.१ धम्मपदे समत्वयोगः

धम्मपदे बुद्ध उपदिशति-यः समत्वबुद्ध्या आचरणं करोति, यस्य वासनाश्च शान्ताः यः जितेन्द्रियः, संयमस्य ब्रह्मचर्यस्य पालनं करोति, यः सर्वेभ्यो जीवेभ्यः दण्डस्य त्यागः कृतः अर्थात् सर्वेभ्यो मैत्री भावयुतः, कस्मै अपि कष्टं न ददाति, तथा जनः गृहस्थः अपि श्रमणः एव। सैव भिक्षुकः। यथा-

अलङ्कृतो चेपि समं चरेय्य सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्षू॥

- धम्मपद, २६/६

येन पापं प्रक्षाल्य प्रवाहितं सः ब्राह्मणः। यः समतायाः आचरणं करोति सः श्रमणः। तेन स्व मलम् अपहृतम् अतः सः प्रव्रजितः कथ्यते। यथा—

वाहितपायोति ब्राह्मणो समचरिया समणोति वुच्चति।
पव्वाजयमत्तनो मलं तस्मा पव्वजितोति वुच्चति॥

— धम्मपद, २६/६

४.७.२ समणसुत्ते समत्वयोगः

समणसुत्ते कथितम् सम्यक्त्व विहीनजनः सहस्त्रकोटिवर्षम् उग्रतपः करणे अपि बोधि-लाभं प्राप्तुं न शक्नोति। यथा—

सम्मत्तविरहियाणं, सुट्ठुं वि उग्गं तवं चरंता णं।
ण लहंति वोहिलाहं, अवि वाससहस्सकोडीहिं॥

— समणसुत्तं, २/१८/४

यः समस्त जीवेभ्यः सुखदुःखे समभावयुतः सैव श्रमणः कथ्यते। यथा—

सुविदिदपयत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोव ओ ओ तित्ति॥

— समणसुत्तं, २/२०/१७

सामायिक करणेन श्रावकः श्रमणसमः भवति अतः अनेकप्रकारेण सामयिकं करणीयम्। यथा—

सामाइयम्भि उ कए, समणे इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा॥

— समणसुत्तं, २/२३/२७

श्रमणः लाभेः अलाभे, सुखे दुःखे, जीवने-मरणे निन्दायां प्रशंसायां, माने-अपमाने समभावेन व्यवहरति। यथा—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
सम्ये निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ॥

—समणसुत्तं, २/२४/१२

४.७.३ समत्वयोगस्य तुलनात्मकम् अध्ययनम्

धम्मपदे समणसुत्ते ग्रन्थद्वये समतायाः आचरणकर्ता श्रमणः कथितः सर्वेभ्यः जीवेभ्यः समानता आचरणीया। समतायाः प्रधानता अस्ति। यथा—

वाहितपापोति ब्राह्मणो समचरिया समणोति वुच्चति।
पब्बाजयमत्तनो मलं तस्मा पब्बजितोति वुच्चति॥

—धम्मपद, २६/६

धम्मपदे माध्यस्थ वृत्ति कृते बलं प्रदत्तम्। अयमेव समत्व योगः।

४.८.० ब्राह्मणः

बौद्ध-जैन परम्परायां सदाचरणं मानवजीवनस्य उच्चताधर्मतयोः प्रतिमानं मतम्। सदाचरणमेव ब्राह्मणत्वस्य प्रतीकमिति प्रतिपादितम्। सदाचारस्य तात्पर्योऽस्ति उचितमाचरणम्। ब्राह्मणः उपयुक्तं आचरणं कुर्यात्। वस्तुतः ब्राह्मणः जात्याः कुलस्य स्थानविशेषस्य वा कारणात् न अपितु मानवीय-गुणानां प्रतीकमात्रम् अस्ति। भगवतो बुद्धस्य महावीरस्य चोभयोः मते येन स्वजीवने मानवीयगुणानां सम्यक् विकासः कृतः स एव ब्राह्मण इति वक्तुं शक्यते।

यथार्थः ब्राह्मणः अग्निरिव लोकपूज्यः वन्दनीयश्च भवति। सः तेजस्वितां विदधते। यः कस्मिन्नपि अनासक्तो हर्षशोकरहितः स्वाध्यायरतश्च भवति स एव ब्राह्मणत्वस्य वास्तविकोऽधिकारी भवति, यतः तस्मिन् ब्राह्मणत्वस्य सर्वे गुणाः विद्यमानाः भवन्ति। (द्रष्टव्यः—बौद्ध तथा जैन धर्म, पृष्ठ १८०)।

४.८.१ धम्मपदे ब्राह्मणस्वरूपम्

ब्राह्मणानां विषये बुद्ध उक्तवान् यत् कर्मणा मनुष्यो ब्राह्मणो
क्षत्रियः वैश्यः शूद्रो वा भवति न तु जन्मना। मातृयोनिसमुत्पन्नमात्रकः
न स ब्राह्मण इति वक्तुं शक्यते। त्यागी एव ब्राह्मणः। यथा—

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं।

“भो वादि” नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो।

अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/१४

येन दुग्मेऽस्मिन् संसारे मोह-त्यक्तः संसारात्पारङ्गतः ध्यानी
तीर्णश्च स्म एव ब्राह्मणः। यथा—

यो इमं पलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।

तिण्णो पारगतो ज्ञायी अनेजो अकथंकथी।

अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३२

रतिम् अरतिं त्यक्त्वा शान्तः क्लेशरहितः सर्वलोके विजयीवीरः
ब्राह्मणो भवति। यथा—

हित्वा रतिञ्च अरति च सीतिभूतं निरूपधिं।

सब्बलोकाभिभुं वीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३६

निर्भयः अनासक्तः ब्राह्मणोऽस्ति। यस्य पाराः (नेत्र श्रोतृनासिका-
जिह्वा-काया मनांसि) अपराः (रूपरसगन्धरसस्पर्शाः) पारापाराश्च
(अहं ममेति) नास्ति स एव ब्राह्मणः। यथा—

यस्स पारं अपारं वा पारावारं न विज्जति।

वीतद्दरं विसज्जुतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३६

धम्मपदे बुद्ध उक्तवान् यत् न जटाभिर्न गोत्रेण न वा जन्मना कोऽपि ब्राह्मणो भवति अपितु यस्मिन् सत्य धर्मयोः च भावना भवति स एव ब्राह्मणः सैव च पवित्रः। यथा—

न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चच्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥

—धम्मपद, २६/११

यस्य मनसा वाचा कायेन च दुष्कृताः पापाश्च न भवन्ति, ये त्रिषु अपि स्थानेषु संवरयुक्ताः भवन्ति त एव ब्राह्मणा उच्यन्ते। यथा—

यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं।
सुवुत्तं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—धम्मपद, २६/९

योऽक्रोधः व्रती शीलवान् अनुत्सुकः संयमी अन्तिमशरीरवान् च भवति तमहं ब्राह्मणं वच्मि। यथा—

अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुत्सुतं।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—धम्मपद, २६/१८

यः गम्भीरप्रज्ञः मेधावी मार्गामार्गज्ञः उत्तमपुरुषार्थं निर्वाणं प्राप्तवान् स ब्राह्मण उच्यते। यथा—

गम्भीरपज्जं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—धम्मपद, २६/२१

संग्रहरहितो ब्राह्मणः। गृहस्थगृहत्यागिणोः भ्यां उभाभ्यामपि असम्बद्धः यायावरः अल्पेच्छः योऽस्ति तमहं ब्राह्मणं वच्मि। यथा—

असंसट्ठं गहट्ठेहि अनागारेहि चूभयं।
अनोकसारिं अप्पिच्छं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

—धम्मपद, २६/२२

अहिंसकः ब्राह्मणः चरो चरेषु प्राणिषु प्रहारविरतः न हिंसते न च हिंसार्थं प्रेरयति तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

निधाय दण्डं भूतेषु तसेषु थावरेषु च।
यो हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२३

रागादिरहितो ब्राह्मणः आरे सर्षप इव यस्य मनसा रागद्वेषमानम्रक्षादयो क्षिप्ताः तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

यस्य रागो च दोसो च मानो मक्खो च पातितो।
सासपोरिव आरग्गा तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२५

ब्राह्मणः सत्यवक्ता। यः एतादृशमकर्कशं सार्थकं सत्यं वचनं वदतु येन लेशमपि पीडा न स्यात् सः ब्राह्मणः। यथा—

अक्कसं विज्जापनिं गिरं सच्चं उदीरये।
याम नाभिसजे किञ्चि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२६

अदत्तवस्तुनोऽग्रहीता ब्राह्मणः। यः ह्रस्वस्य दीर्घस्य वा स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा शुभस्याशुभस्य वा कस्यापि वस्तुनो अदत्तस्य ग्रहीता न स एव ब्राह्मणः। यथा—

योध दीधं व रस्सं वा अणुं थूलं सुभासुभं।
लोके अदिन्नं नादियते तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२७

आशारहितोऽनासक्तः ब्राह्मणः। लौकिकं पापरलौकिकं वा विषयं ज्ञातुं यस्य आशा न विद्यते सः ब्राह्मणः। यथा—

आसा यस्सन विज्जन्ति अस्मि लोके परमि च।
निरासयं विसंयुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२८

पुण्यपापरहितो ब्राह्मणः। येन पुण्यस्य पापस्य च उभयोरपि
आसक्तिः त्यक्ता, यः शोकरहितो निर्मलः शुद्धश्चास्ति सः ब्राह्मणः।
यथा—

योध पुञ्चच्च पापञ्च उभो सङ्गं उपच्चगा।
असोकं विरजं सुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३०

यः चन्द्रमसा सदृशं निर्मलः स्वच्छः विमलनिर्मलः अस्ति। सर्वेषु
अपि जन्मसु यस्य तृष्णा समाप्ता सः ब्राह्मणः। यथा—

चन्दं व विमलं सुद्धं विप्पसन्नमनाविलं।
नन्दीमवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३१

त्यक्ततृष्णः ग्रहीतपरिव्रज्यः नष्टतृष्णः नष्ट जन्मा च ब्राह्मणो
मतः। यथा—

योध तण्हं पहत्वान अनागारो परिब्बजे।
तण्हाभवपरिक्खीणं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३४

बन्धनमुक्तो ब्राह्मणः। यः मानुषानि बन्धनानि विमुच्य दिव्य
बन्धनानि अपि मुक्तवान् सः ब्राह्मणः। यथा—

हित्वा मानुसकं योगं दिब्बं योगं उपच्चगा।
सब्बयोगविसंयुतं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३५

भोगेषु अलिप्तः ब्राह्मणः। पद्मपत्रे जलमिव आराग्रे च सर्षपमिव
यः भोगेषु न लिप्यते तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

वारि पोक्खरपत्ते व आरग्गेवि सासपो।
यो न लिप्यति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/१९

प्राप्तनिर्वाणो ब्राह्मणः। यस्मिन् आलयः (तृष्णा) नास्ति। यः ज्ञात्वा संशयरहितो जातः येन च प्रविश्य अमृतं निर्वाणपदं लब्धं सः ब्राह्मणः। यथा—

यस्सालया न विज्जन्ति अज्जाय अकथंकथो।
अमतोगधं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/२९

अर्हत ब्राह्मणः। यस्य गतिं देवताः गन्धर्वाः मनुष्याः न जानन्ति यः क्षीणाश्रयः अर्हदस्ति तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

यस्स गतिं न जानन्ति देवा गन्धव्वमानुसा।
खीणासवं अरहन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३८

यस्य प्राग् पश्चात् मध्ये च न किञ्चिदपि अस्ति। योऽकिञ्चनः अपरिग्रहश्चास्ति तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

यस्सपुरे च पच्छत च मज्झे च नत्थि किञ्चन।
अकिञ्चनं अनादानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३९

यः ऋषभः प्रवरः वीरो महर्षिः विजेता अकम्पः स्नातकः बुद्धश्चास्ति तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/४०

प्रज्ञापूर्णः ब्राह्मणः। यः पूर्वजन्म जानाति स्वर्गं अगतिं च पश्यति। यस्य पुनर्जन्म क्षीणं पूर्णप्रज्ञः यः स्वसर्वं कर्मफलादिकं सम्पूर्णं कृतं तमहं ब्राह्मणं ब्रूमि। यथा—

पुब्बेनिवासं यो वेदि सग्गापाय च पस्सति।
अथो जातिक्खयं पत्तो अभिञ्जावोसितो मुनी।
सब्बवोसितवोसानं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/४१

४.८.२. समणसुत्ते ब्राह्मणः

समणसुत्ते ब्राह्मणापेक्षया क्षत्रियाणां श्रेष्ठत्वं प्रतिपादितम्। तीर्थङ्कराः क्षत्रियकुल एव उत्पन्नाः भवन्ति। तथापि ब्राह्मणानां विषयेऽपि अनेकशः विचाराः प्रस्तुती कृताः।

तदनुसारेण यथा जलं जातं कमलं जलेन न लिप्यते तथैव कामभोगादीनां वातावरणे जातो मनुष्यः, यः तेषु लिप्तो न भवति सः ब्राह्मणः। यथा—

जहा पोम्मं जले जायं, नोवलि प्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहि, तं वयं बूम माहणं॥

— समणसुत्तं, १/९/२८

समणसुत्ते ब्राह्मणस्य कृते “साधु” शब्दस्य प्रयोगोऽपि कृतः। ज्ञानदर्शनसम्पन्नः संयमतपसो लीनः एतादृशैरेव गुणैयुक्तः संयमी पुरुष एव साधुर्मतः। यथा—

नाणदंसणसंपण्णं, संजमे य तवे रमं।
एवंगुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे॥

— समणसुत्तं, २/२४/४

समणसुत्ते इदमपि उक्तं यत् केवलं मुण्डनेनैव कोऽपि श्रमणो न भवति ओमिति जपं कृत्वा कोऽपि ब्राह्मणो न भवति। अरण्यवासेन मुनिः चीवरवस्त्राणि धृत्वा च तपस्वी न भवति। यथा—

नि वि मुण्डएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसीचरेण न तावसो॥

— समणसुत्तं, २/२४/५

समत्वेन श्रमणो भवति ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति ज्ञानेन मुनिः
भवति तपेन तपस्वी च। यथा—

समपाए समणो होइ, वंभचरेण वंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

— समणसुत्तं, २/२४/६

कोऽपि व्यक्तिः गुणैः साधुः दुर्गुणैश्च असाधुः भवति। अतः
साधोः गुणाः ग्राह्याः असाधुता च परित्याज्या। यः आत्मना आत्मानं
ज्ञायमानो रागद्वेषयोः समभावेन तिष्ठति स एव पूज्यः। यथा—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहूगुण मुचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

— समणसुत्तं, २/२४/७

देहादौ अनुरक्तः विषयासक्तः कपायसंयुक्तः आत्मस्वभावे च
सुप्तः साधुः सम्यकत्वशून्यः भवति। यथा—

देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
अप्पसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता॥

— समणसुत्तं, २/२४/८

भिक्षार्थं अटन् भिक्षकः नैकशः सदसद्वार्ताः शृणोति बहूनि
सदसद्वस्तूनि पश्यति किन्तु श्रुत्वा दृष्ट्वापि च कमपि किञ्चिदपि न
भाषते। अर्थात् सः उदासीनः तिष्ठति। यथा—

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥

— समणसुत्तं, २/२४/९

स्वाध्यायरताः ध्यानरताश्च साधवः रात्रौ अति शयनं न कुर्वन्ति।
सूत्रार्थचिन्तनात् ते निद्रायाः वशीभूताः न भवन्ति। यथा—

सज्झायज्झाणजुत्ता, रत्तिं ण सुयंति ते पयामं तु।
सुत्तथं चिंतंता, णिछाय वसंण गच्छति॥

— समणसुत्तं, २/२४/१०

साधवः ममत्वहीनाः निरहङ्कारिणः निःसङ्गाः गौरवत्यागिनः
त्रसस्थावरान् जीवान् प्रति समदर्शिनः। यथा—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।

समो व सव्वभूएसु, तसेसु भावरेसु अ॥

—समणसुत्तं, २/२४/११

लाभालाभे सुखदुःखे जीवनमरणे निन्दास्तुतौ मानापमाने च
समदर्शिनः भवन्ति। यथा—

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।

समो निन्दापसंससासु, तहा माणावमाणओ॥

—समणसुत्तं, २/२४/१२

सः गौरवकपायदण्डशल्यभयहास्यशोकादिभ्यो निःवृत्तः अनिदानी,
बन्धनरहितः भवति। यथा—

गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य।

नियत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो॥

—समणसुत्तं, २/२४/१३

सोऽस्मिन् लोके परलोके वा अनासक्तः चन्दनविलेपने
आहार-निराहारे समः तिष्ठति हर्षविषादाभ्यामप्रभावितो भवति। यथा—

अणिसिओ इहं लोए, परलोए अणिसिओ।

वासीचन्दणकप्पो य, असणे अणसणे तहा॥

—समणसुत्तं, २/२४/१४

एतादृशः श्रमणः अप्रशस्तद्वारेभ्य आगतानामास्रवाणां सर्वतो भावेन
निरोधं कृत्वा अध्यात्मसम्बन्धिभिः ध्यानयोगैः प्रशस्ते संयमसाधने रतो
भवति। यथा—

अप्पसत्थेहिं दारोहिं, सव्वओ पिहियासवो।

अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणे॥

—समणसुत्तं, २/२४/१५

बुभुक्षा पिपासादुःशय्याशीतोष्णताअरतिभयादयः विना दुःखं
सोढव्याः यतोहि दैहिक दुःखानां समभावेन सहनं फलदायकं प्रभवति।
यथा—

खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउप्पहं अहई भयं।
अहियासे अव्वहि ओ, देहे दुक्खं महाफलं॥

—समणसुत्तं, २/२४/१६

सर्वे ज्ञानिभिः एतादृशाः तपानुष्ठानस्य उपदेशो विहितः यस्मिन्
संयमानुकूलेन वर्तनेन सार्धं दिने एकधैव भोजनं विहितः। यथा—

अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्वबुद्धेहिं वणिणयं।
जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं॥

—समणसुत्तं, २/१४/१७

समतारहितस्य श्रमणस्य वनवासः कायक्लेशाः विचित्रोपवासः
अध्ययनं मौनं च व्यर्थम्। यथा—

किं काहदि वणवासो, कायक्लेशो विचित्त उपवासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहि यस्सस समणस्स॥

—समणसुत्तं, २/२४/१८

प्रबुद्धोपशान्तो भूत्वा संयतभावेन ग्रामनगरेषु विचरणं कृत्वा
शान्तिमार्गं वर्धयित्वा क्षणमपि न प्रमदेत्। यथा—

बुद्धे परिनिप्पुडे चरे, गाम गए नगरे व संजेए।
सतिमग्गं च बूहए, समयं गोयम! मा पमायए॥

—समणसुत्तं, २/२४/१९

४.८.३ तुलनात्मक अध्ययनम्

धम्मपदसमणसुत्तयोः ग्रन्थयोः अध्ययनेन ज्ञायते यत् ब्राह्मणेषु
त्यागभावना अवश्यं सम्भाव्या।

धम्मपदे उक्तं यत् येनास्मिन् दुर्गमे संसारे मोहो त्यक्तः, यः संसार
पारङ्गतः ध्यानी तीर्णश्च जातः सः ब्राह्मणः। यथा—

यो इमं वलिपथं दुग्गं संसारं मोहमच्चगा।
तिण्णो पारगतो ज्ञायी अनेजो अकथंकथी।
अनुपादाय निब्बुतो तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/३२

एवमेव समणसुत्तेऽपि त्यागभावनायाः प्राधान्यं वर्णितम्। कोऽपि स्वगुणैः साधुः भवति अगुणैश्चासाधुः। अतः साधुः गुणान् गृहीत्वा असाधुतायाः त्यागं कुर्यात्। यथा—

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू गिण्हाहि साहूगुणमुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहि समो स पुज्जो॥

— समणसुत्तं, २/२४/९

द्वयोरपि परम्परयोः जन्मना ब्राह्मणत्वं न स्वीकृतम्। धम्मपदे उक्तं यत् जटाभिः गोत्रेण जन्मना वा न कोऽपि ब्राह्मणो भवति अपितु यस्मिन् सत्यधर्मयोश्च भावना वर्तते स एव पवित्रो ब्राह्मणः भवितुमर्हति।

एवमेव समणसुत्तेऽपि कथितं यत् केवलं शिरोमुण्डनेन कोऽपि श्रमणो न भवति, ओ३म् इति पदस्य जपमात्रेण ब्राह्मणो न भवति अरण्यवासने कोऽपि तपस्वी न भवति कुशवल्कलानि धृत्वा तपस्वी न भवति अपितु समतया श्रमणो भवति ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणो भवति। यथा—

समयाए समवो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो॥

— समणसुत्तं, २/४६/६

उभयोः ग्रन्थयोः बाह्याडम्बराः अस्वीकृताः। अपितु समता एव ब्राह्मणस्य लक्षणम्।

अनासक्तिः ब्राह्मणस्य गुणः इदं द्वयोरपि ग्रन्थयोः सङ्केतितम्।

ब्राह्मणेषु संयमोऽपि आवश्यको यतः यः संयमी अस्ति अन्तिमशरीरवाञ्छ भवति, स एव ब्राह्मणः। यथा—

अक्कोधनं वतवन्तं सीलवन्तं अनुस्सुतं।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥

— धम्मपद, २६/१८

एवमेव समणसुत्तेऽपि उक्तम् यत् संयमतपसोः लीनः एवं
प्रकारकाणां गुणैः युक्तः संयमी साधुः उच्यते। यथा—

नागदंसणसंपण्णं, संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं, संजयं साहुमालवे॥

— समणसुत्तं, २/२४/४

पंचमोऽध्यायः उपसंहारः

न भजेत् पापानि मित्राणि, न भजेत् पुरुषाधमान्।
भजेत् मित्राणि कल्याणानि, भजेत् पुरुषानुत्तमान्॥
(न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे।)

— धम्मपद, ६/३

सार्वभौमिक सत्यं बौद्धदर्शनस्य सारग्रन्थे धम्मपदे प्रतिपादितम्।
धम्मपदस्य महत्त्वं स्त्रयं भगवतः बुद्धेन वर्णितम्—

यो च गाथासतं भासे अनत्थपद संहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति॥

— धम्मपद, २/२८

एक गाथायाः नामकरण विवेचने ज्ञायते शब्द द्वयं श्रमणसुत्त इति।
जैन-आचार-मार्गः द्विविधं विभाजितः।

(१) श्रावकाचारः, (२) श्रमणाचारः च। श्रावकाः गृहस्थाः
भवन्ति श्रमणाश्च प्रव्रजिताः। श्रावकाणाम् आचरणं श्रमणानाम्
आचारतुलनायां सरलं भवति। श्रावकाः गृहत्यागिनः न भवन्ति परन्तु
ते स्वाचारविषये निरंतरं सचेताः भवन्ति। तेषां लक्ष्यं श्रमणधर्माभिमुखं
भवति। श्रावक धर्मः श्रमणधर्मस्य आधारः भवति। एवं श्रमण शब्दः
एकतः साधुकृते प्रयुक्तः द्वितीयतः एकासम्पूर्ण संस्कृतिः एव श्रमणः
यस्य अंतर्गते जैनबौद्धद्वयं सन्निहितम्।

सुत्तशब्दस्य अर्थः सूत्रम् वर्तते। प्राकृतसुत्तशब्दः सूत्र-सूक्त-
श्रुत-पर्यायः। समणसुत्तस्य संकलनं प्राकृतागाथाभ्यः कृतम् अतः
ग्रन्थस्य नामकरणं समणसुत्तं जातम्।

अस्मिन् पवित्र-ग्रन्थद्वये वर्णितेन उपदेशेन ज्ञायते यत् महापुरुषैः देशकाल-परिस्थितित्यानुसारम् अनन्तस्य अनन्तमः अंशः प्रकटितः। महापुरुषाणां दर्शनं संकुचितं न भवति परन्तु अर्थग्रहण-सीमा कारणात् कालान्तरे भेदमूलत्वं भवति।

समणसुत्तस्य चतुर्खण्डेषु ७५६ गाथासु जैनधर्मस्य, तत्त्वदर्शनस्य, आचार-मार्गस्य च संक्षिप्त परिचयः प्राप्यते। विपुले जैन दर्शनसाहित्ये जैनधर्मस्य सिद्धान्तानां सामान्यपरिचयार्थं सर्वसम्मतप्रतिनिधिः ग्रन्थः समणसुत्तं वर्तते।

त्रिपिटके संरक्षित धम्मपदस्य विषयतथ्येषु कस्यापि सम्प्रदायस्य विरोधः न कृतः। कालान्तरे बौद्धधर्मे विकासितानां महायान-वज्रयानादि सम्प्रदायानां प्रतिनिधित्वं धम्मपदे नास्ति। अस्मिन् महात्माबुद्धस्य मूलशिक्षा प्रस्तुता।

समणसुत्त-धम्मपदग्रन्थद्वये एकम् अन्तरम् अस्ति गाथाविभाजने। धम्मपदे वर्गाविभाजनम् उपमा-आधारे, शैल्याः आधारे विषयाधारे च कृतम्। समणसुत्तग्रन्थः विंशतिशताब्दि संकलनम् अतः अस्मिन् व्यवस्थितरूपेण शीर्षकानुसारं विषयवस्तु प्रतिपादनं कृतम्।

आचार्य विनोबा भावे महाभागेन धम्मपदविषयवस्तुं पुनः नवशीर्षकेषु विभाजितम्। प्रथमं कर्मयोगं षट्-उपशीर्षकेषु विभाजितम्-निर्वैरता, शीलः, सत्संगतिः, कर्मविपाकः, नीतिः अनिन्दा च। द्वितीयं साधनाम् अपि षट् उपशीर्षकेषु विभाजितम्-आत्मदमनम्, देहानित्यत्वम्, जागरूकता, शोधनं, प्रज्ञा योगः, वितिष्णता च। तृतीयं निष्ठापि षट्-उपशीर्षकेषु विभाजिता-बुद्धबौद्धः, सद्धर्मः, पण्डितः, भिक्षुः, अर्हन्तः, ब्राह्मणश्च।

जैन-बौद्ध दर्शनद्वये समानता-धर्म, ब्राह्मण, भिक्षु, पंचमहाव्रत, अप्रमाद, कर्म, निर्वाण, सम्यक्दर्शन, दुःखं, कषाय, मन, अनाशक्ति विषयेषु दृश्यते। तुलनात्मके अध्ययने धर्म, दर्शनद्वयं विभाजनं कृतम्। धर्मः आचरण-क्षेत्रं, दर्शनं विचार-क्षेत्रं कथितम्।

धम्मपदस्य अनित्य, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, अशरण, संसार, आस्तव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक बोधिदुर्लभ द्वादश भावनाः समणसुत्ते अपि एवमेव वर्तन्ते परन्तु भावना-शब्दस्य स्थाने अनुप्रेक्षा शब्दस्य प्रयोग कृतः।

ग्रन्थद्वये 'अर्हत' पदस्य तुलनात्मके अध्ययने ज्ञायते यत् 'अर्हत' शब्द-प्रयोगः एकस्मिन्नेव अर्थे दर्शनद्वये वर्तते। धम्मपदस्य प्रारम्भे 'अरहत्' इति सम्बोधनं भगवते बुद्धाय तथैव कृतः यथा जैन-ग्रन्थेषु नमो अरिहंताणं, इति लिखितं प्राप्यते। 'अर्हत' शब्दस्य अर्थः जीवनमुक्त-पुरुषाय कृतः।

जैन-दर्शने अहिंसाधर्मे अधिकं वलं दत्तं तथा बौद्ध दर्शने न कृतम्। जैन-दर्शने काया क्लेशाः तपः कथितः परन्तु बौद्ध दर्शने संतुलित-जीवनाय उपदेशः कृतः। जैन दर्शनम् आत्मवादी अस्ति परन्तु बौद्धदर्शनम् अनात्मवादी अस्ति।

संक्षेपे धम्मपदे समणसुत्ते संकलितविचार-दृष्ट्या अधिकांशतः समानता एव दृश्यते सर्वत्र, वैषम्यता न्यूना वर्तते।

परिशिष्टम्-१

जैन शासनम्

१. कर्मसूत्रम्

१. यदिच्छसि आत्मतः, यच्च नेच्छसि आत्मतः।
तदिच्छ परस्यापि च, एतावस्कं जिनशासनम्॥२४॥

जो तुम अपने लिये चाहते हो वही दूसरों के लिये चाहो तथा जो तुम अपने लिये नहीं चाहते वह दूसरों के लिये भी न चाहो। यही जिनशासन है।

२. आश्वासः विश्वासः शीतगृहसमश्च भवति मा भैषीः।
अम्बापितृसमानः, संघः शरणम् तु सर्वमिति॥२७॥

संघ भयभीत व्यक्तियों के लिये आश्वासन, निश्छल व्यवहार के कारण विश्वासभूत, सर्वत्र समता के कारण शीतगृह तुल्य, अविषमदर्शी होने के कारण माता-पिता तुल्य तथा सब प्राणियों के लिये शरणभूत होता है, इसलिये तुम संघ से मत डरो।

३. धर्मः मङ्गलमुकृष्टं, अहिंसा संयम तपः।
देवाः अपि तं नमस्यन्ति, यस्य धर्मे सदा मनः॥८२॥

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप उसके लक्षण हैं। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं।

४. धर्मः वस्तु स्वभावः, क्षमादिभावः च दशविधः धर्मः।
रत्नत्रयं च धर्मः, जीवानां रक्षणं धर्मः॥८३॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। क्षमा आदि भावों की अपेक्षा से वह दस प्रकार का है। रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र) तथा जीवों की रक्षा करना धर्म है।

५. उत्तम क्षमा मार्दवार्जव सत्य शौचं च संयमं चैव।
तपस्त्यागः आकिञ्चन्यं, ब्रह्म इति दसविधः धर्मः॥८४॥

उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य—ये दस धर्म हैं।

६. क्षमे सर्वजीवान् सर्वे जीवाः क्षमन्तां मम।
मैत्री मे सर्वभूतेषु, वैरं मम न केनापि॥८५॥

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है। मेरा किसी से भी बैर नहीं है।

७. यदि किञ्चित् सुमादेन, न सुष्ठु युष्माभिः सह वर्तितं मया पूर्वम्।
तद् युष्मान् क्षमयाम्यहं, निःशल्यो निष्कषायश्च॥८७॥

अल्पतम प्रमादवश भी यदि मैंने आपके प्रति उचित व्यवहार नहीं किया हो तो मैं निःसंकोच क्षमाकरहित होकर आपसे क्षमा याचना करता हूँ।

८. कुल रूप जाति बुद्धिषु, तपःश्रुत शीलेषु गौरवं किञ्चित्।
यः नैव करोति श्रमणः मार्दव धर्मो भवेत् तस्य॥८८॥

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, ज्ञान, तप, श्रुत और शील का तनिक भी गर्व नहीं करता, उसके मार्दवधर्म होता है।

९. योऽपमान करणं, दोषं परिहरति नित्यमायुक्तः।
सो नाम भवति मानी न गुण त्येक्तेन मानेन॥८९॥

जो दूसरों को अपमानित करने के दोष का सदा सावधानीपूर्वक परिहार करता है, वही यथार्थ मेंमानी है। गुणशून्य अभिमान करने से कोई मानी नहीं होता।

१०. सः असकृदुच्चैर्गोत्रः असकृन्नीचैर्गोत्रं नो हीनः नो अतिरिक्तः।
न स्पृहोत् इति संख्याय, को गोत्रवादी को मानवादी?॥९०॥

यह पुरुष अनेक बार उच्चगोत्र और अनेक बार नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है अतः न कोई हीन है और न कोई उच्च। यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा?

२. धर्मसूत्रम्

११. यः चिन्तयति न वक्रं न करोति वक्रं न जल्पति वक्रम्।
न च गोपयति निजदोषम्, आर्जवधर्मः भवेत् तस्य॥११॥

जो कुटिल विचार नहीं रखता, कुटिल कार्य नहीं करता, कुटिल वचन नहीं बोलता और अपने दोषों को नहीं छिपाता, उसके आर्जव-धर्म होता है।

१२. पर संतापक कारण वचनं मुक्त्वा स्व परहित वचनम्।
यः वदति भिक्षुः तुरीयः तस्य तु धर्मः भवेत् सत्यम्॥१२॥

जो भिक्षु (श्रमण) दूसरों को संताप पहुँचाने वाले वचनों का त्याग करके स्व-पर हितकारी वचन बोलता है, उसके चौथा धर्म सत्य होता है।

१३. पथ्यं हृदयानिष्टमपि, भणमानस्य स्वगणवासिनः।
कटुकमिवौषधं तत् मधुर विपाकं भवति तस्य॥१३॥

अपने सम्बन्धियों द्वारा कही हुई हितकर बात, भले ही वह मन को प्रिय न लगे, कटुक औषध की भाँति परिणाम में मधुर होती है।

१४. विश्वसनीयो मातेव, भवति पूज्यो गुरुरिव लोकस्य।
स्वजन इव सत्यवादी, पुरुषः सर्वस्य भवति प्रियः॥१४॥

सत्यवादी मनुष्य माता की तरह विश्वसनीय जनता के लिये गुरु की तरह पूज्य और स्वजन की भाँति सबको प्रिय होता है।

१५. सत्ये वसति तपः सत्ये संयम तथा वसन्ति शेषापि गुणाः।
सत्यं निबन्धं हि च, गुणानामुदधिरिव मत्स्यानाम्॥१५॥

सत्य में तप, संयम और शेष समस्त गुणों का वास होता है। जैसे समुद्र मत्स्यों का कारण-उत्पत्तिस्थान है, वैसी ही सत्य समस्त गुणों का कारण है।

१६. सुवर्णरूप्यस्य च पर्वता भवेयुः
स्यात् खलु कैलाससमा असंख्यकाः।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किञ्चित्,
इच्छा खलु आकाशसमा अनन्तिका॥१६॥

कदाचित सोने और चाँदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जायें तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता। क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

१७. सम सन्तोष जलेन, यः धोवति तीव्र लोभ मल पुञ्जम्।
भोजनगृद्धिविहीनः, तस्य शौचं भवेत् विमलम्॥१००॥

जो समता व संतोष रूपी जल से तीव्र लोभरूपी दोष समूह को धो देता है और जिसमें भोग की लिप्सा नहीं है उसकी स्वच्छता विमल होती है।

१८. अहमेकः खलु शुद्धो दर्शन ज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत् परमाणुमात्रमपि॥१०६॥

मैं एक शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय, नित्य और अरूपी हूँ। इसके अतिरिक्त अन्य परमाणु मात्र भी वस्तु मेरी नहीं है, यही वास्तविकता है।

१९. यथा पद्मं जले जातं, नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्तम् कामैः तं वयं ब्रूमो ब्राह्मणम्॥१०९॥

जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल में लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

२०. या या व्रजति रजनी, न सा प्रतिनिर्वतते।
अधर्मं कुर्वाणस्य, अफलाः यान्ति रात्रयः॥११८॥

जो-जो रात बीत रही है वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती हैं।

३. संयम सूत्रम्

२१. आत्मा नदी वैतरणी, आत्मा मे कूटशाल्मली।
आत्मा कामदुधा धेनुः आत्मा मे नन्दनं वनम्॥१२२॥

मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है। आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दन वन है।

२२. एकतो विरतिं कुर्यात् एकतश्च प्रवर्तनम्।

असंयमान्निवृत्तिं च, संयमे च प्रवर्तनम्॥१२६॥

एक ओर से निवृत्ति और दूसरी ओर से प्रवृत्ति करना चाहिये। असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति होनी चाहिये।

२३. क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति, मानो विनयनाशकः।

माया मित्राणि नाशयति लोभः सर्वविनाशकः॥१३५॥

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय को नष्ट करता है, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट करता है।

२४. उपशमेन हन्यात् क्रोधं मानं मार्दवेन जयेत्।

मायां च आर्जवभावेन, लोभं सन्तोषतो जयेत्॥१३६॥

क्षमा से क्रोध का हनन करें, विनम्रता से मान को जीतें, वीरता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतें।

२५. यथा कूर्मः स्वांगानि, स्वके देहे समाहरेत्।

एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत्॥१३७॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष पापों को आध्यात्म के द्वारा समेट लेता है।

२६. स जानन् अजानन् वा कृत्यावाधार्मिकं पदम्।

संवरेत् क्षिप्रमात्मानं, द्वितीयं तत् न समाचरेत्॥१३८॥

जान या अंजान में कोई अधर्म कार्य हो जाय तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा लेना चाहिये, फिर दूसरी बार वह कार्य न किया जाय।

२७. एतत् खलु ज्ञानिनः सारं, यत् न हिनस्ति कञ्चन।

अहिंसा समतां चैव, एतावतीं विजानीयात् वियाणिया॥१४७॥

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। इतना जानना ही पर्याप्त है कि अहिंसामूलक समता ही धर्म है अथवा यही अहिंसा का विज्ञान है।

२८. सर्वे जीवाः अपि इच्छन्ति, जीवितुं न मर्तुम्।

तस्मात्प्राणवधं घोरं, निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम्॥१४८॥

सभी जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिये प्राणवध को भयानक जानकर विद्वान उसका वर्जन करते हैं।

२९. यावन्तो लोके प्राणा-स्वसा अथवा स्थावराः।

तान् जानन्नजानन्वा, न हन्यात् नोऽपि घातयेत्॥१४९॥

लोक में जितने भी चर और अचर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में उनका हनन न करें और न ही करायें।

३०. यथा ते न प्रियं दुःखं ज्ञात्वैवमेव सर्वजीवानाम्।

सर्वादरमुपयुक्तः, आत्मौपम्येन कुरु दयाम्॥१५०॥

जैसे तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब जीवों को दुःख प्रिय नहीं है, ऐसा जानकर, पूर्ण आदर और सावधानीपूर्वक, सभी को अपना जैसा समझकर, सब पर दया करो।

४. अहिंसा सूत्रम्

३१. जीववध आत्मवधो, जीवदयाऽऽत्मनो दया भवति।

तस्मात् सर्वजीवहिंसा, परित्यक्ताऽऽत्मकामैः॥१५१॥

जीव का वध अपना ही वध है। जीव की दया अपनी ही दया है। अतः आत्महितैषी पुरुषों ने सभी तरह की जीव-हिंसा का परित्याग किया है।

३२. आत्मैवाहिंसाऽऽत्मा, हिंसेति निश्चयः समये।

यो भवति अप्रमत्तोऽहिंसकः, हिंसकः इतरः॥१५२॥

आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है—यह सिद्धान्त का निश्चय है। जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है और जो प्रमत्त है वह हिंसक है।

३३. तुङ्गं न मन्दरात् आकाशाद्विशालकं नास्ति।

यथा तथा जगत जानीहि, धर्मोऽहिंसासमो नास्ति॥१५३॥

जैसे जगत में मेरु पर्वत से ऊँचा और आकाश से विशाल और कुछ नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है।

३४. सीदन्ति स्वपताम्, अर्थाः पुरुषाणां लोकसारार्थाः।

तस्माज्जागरमाणा, विधूनयत् पुराणकं कर्म॥१६१॥

जो पुरुष सोते हैं उनके जगत् में सारभूत नष्ट हो जाते हैं। अतः सतत जागते रहो सुकर्म करो।

३५. जागरिका धर्मिणाम् अधर्मिणां च सुप्तता श्रेयसी।

वत्साधिपभगिन्याः, कथितवान् जिनः जयन्त्याः॥१६२॥

धार्मिकों का जागना श्रेयस्कर है और अधार्मिकों का सोना श्रेयस्कर है—ऐसा भगवान् महावीर ने वत्सदेश के राजा शतानीक की बहन जयन्ती से कहा था।

३६. प्रमादं कर्म आहुरप्रमादं तथाऽपरम्।

तद्भावादेशतो वापि, बालं पण्डितमेव वा॥१६४॥

प्रमाद को कर्म (आस्रव) और अप्रमाद को अकर्म (संवर) कहा है। प्रमाद के होने से मनुष्य अज्ञानी होता है। प्रमाद के न होने से मनुष्य ज्ञानी होता है।

३७. सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतोऽप्रमत्तस्य नास्ति भयम्॥१६६॥

प्रमत्त को सब ओर भय होता है। अप्रमत्त को कोई भय नहीं होता।

३८. नालस्येन समं सौख्यं, न विद्या सह निद्रया।

न वैराग्यं ममत्वेन, नारम्भेण दयालुता॥१६७॥

आलसी सुखी नहीं हो सकता, निद्रालु विद्याभ्यासी नहीं हो सकता, ममत्व रखने वाला वैराग्यवान् नहीं हो सकता, और हिंसक दयालु नहीं हो सकता।

३९. जागृत नराः! नित्यं, जागरमाणस्य वर्द्धते बुद्धिः।

यः स्वपिति न सो धन्यः, य जागर्ति स सदा धन्यः॥१६८॥

मनुष्यो! सतत जागृत रहो। जो जागता है उसकी बुद्धि बढ़ती है। जो सोता है वह धन्य नहीं है, धन्य वह है जो सदा जागता है।

४०. आदाने निक्षेपे, व्युत्सर्जने स्थानगमनशयनेषु।

सर्वत्राऽप्रमत्तो, दयापरो भवति खल्वहिंसकः॥१९६॥

वस्तुओं को उठाने धरने में नित्य क्रियाओं में, बैठने तथा चलने फिरने में और शयन करने में जो दयालु पुरुष सुव्यवस्थित रहता है वह निश्चय ही अहिंसक है।

५. शिक्षा सूत्रम्

४१. अथ पञ्चभिः स्थानैः, यैः शिक्षा न लभ्यते।

स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन, रोगेणालयस्यकेन च॥१७१॥

इन पाँच स्थानों या कारणों से शिक्षा प्राप्त नहीं होती—१. अभिमान, २. क्रोध, ३. लापरवाही, ४. रोग और ५. आलस्य।

४२. अथाष्टभिः स्थानैः, शिक्षाशील इत्युच्यते।

असहनशीलः सदा दान्तः न च मर्म उदाहरेत्॥७२॥

इन आठ स्थितियों या कारणों से मनुष्य शिक्षित कहा जाता है—१. हँसी-मजाक नहीं करना, २. सदा इन्द्रिय और मन का संयम। ३. किसी का रहस्योद्घाटन न करना।

४३. नाशीलो ना विशीलः न स्यादतिलोलुपः।

अक्रोधनः सत्यरतः, शिक्षाशील इत्युच्यते॥७३॥

आचार विहीन न होना, दोषों से कलंकित न होना, अति रस लोलुप न होना, अक्रोधी रहना तथा सत्यरत होना।

४४. ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च, स्थितः च स्थापयति परम्॥

श्रुतानि च अधीत्य, रतः श्रुतसमाधौ॥७४॥

अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान और चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है। वह स्वयं धर्म में स्थित होता है और दूसरों को भी स्थिर करता है तथा वेदों का अध्ययन कर वह श्रुतसमाधि में रत होता है।

४५. वसेद् गुरुकुले नित्यं, योगवानुपधानवान्।

प्रियंकरः प्रियंवादी, स शिक्षां लब्धुमर्हति॥१७५॥

जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो परिश्रम करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

४६. अक्षाणि बहिरात्मा, अन्तरात्मा खलु आत्मसंकल्पः।

कर्मकलङ्कमुक्तः, परमात्मा भण्यते देवः॥१७६॥

इन्द्रिय समूह को आत्मा के रूप में स्वीकार करने वाला बहिरात्मा है। आत्म संकल्प, देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करने वाला अन्तरात्मा है। कर्म कलंक से विमुक्त आत्मा देव परमात्मा है।

४७. आरुह्य अन्तरात्मानं, बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन।

ध्यायते परमात्मा, उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः॥१८१॥

जिनेश्वरदेव का यह कथन है कि तुम मन, वचन और काया से बहिरात्मा को छोड़कर, अन्तरात्मा में आरोहण कर परमात्मा का ध्यान करो।

४८. नाहं देहो न मनो, न चैव वाणी न कारणं तेषाम्।

कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्॥१८२॥

मैं आत्मा, न शरीर हूँ न मन हूँ, न वाणी हूँ और न उनका कारण हूँ। मैं न कर्ता हूँ, न करने वाला हूँ और न कर्ता का अनुमोदक ही हूँ।

४९. कोनाम भणेद् बुधः, ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान्।

ममेदमिति च वचनं, जानन्नात्मकं शुद्धम्॥१९०॥

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला तथा दूसरों को अपने समान जानने वाला ऐसा कौन ज्ञानी होगा, जो यह कहेगा कि यह मेरा है।

५०. कर्म अशुभं कुशीलं, शुभकर्म चापि जानीहि वा सुशीलम्।

कथं तद् भवति सुशीलं, यत् संसारं प्रवेशयति॥२००॥

अशुभ कर्म को कुशील और शुभ कर्म को सुशील जानो। किन्तु उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है जो संसार में प्रविष्ट करता है।

६. मोक्ष मार्ग सूत्रम्

५१. सौवर्णिकमपि निगलं, बध्नाति कालायसमपि यथा पुरुषम्।
बध्नात्येवं जीवं, शुभमशुभं वा कृतं कर्म॥२०१॥

बेड़ी सोने की हो चाहे लोहे की, पुरुष को दोनों ही बेड़ियाँ बाँधती है। इसी प्रकार जीव को उसके शुभ अशुभ कर्म बाँधते हैं।

५२. तस्मात्तु कुशीलैश्च, रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम्।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशील संसर्गरागेण॥२०२॥

अतः दोनों ही प्रकार के कर्मों को कुशील जानकर उनके साथ न राग करना चाहिये और न उनका संसर्ग क्योंकि कुशील कर्मों के प्रति राग और संसर्ग करने से स्वाधीनता नष्ट होती है।

५३. सम्यगदर्शनज्ञानमेष लभते इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो, भणितो यः स समयसारः॥२१४॥

जो सभी पक्षपातों, भेदभावों से रहित है वही समयसार है उसी को सम्यगदर्शन तथा सम्यज्ञान की संज्ञा प्राप्त होती है।

५४. सम्यक्त्वविरहिताणाम् सुष्ठु अपि उग्रं तपः चरन्ताणाम्।
न लभन्ते बोधिलाभं, अपि वर्षसहस्रकोटिभिः॥२२२॥

सम्यक्त्वविहीन व्यक्ति हजारों-करोड़ वर्षों तक भलीभाँति उग्र तप करने पर भी बोधिलाभ प्राप्त नहीं करते हैं।

५५. दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।
सिध्यन्ति चरितं भ्रष्टः, दर्शनभ्रष्टाः व सिध्यति॥२२३॥

जो सम्यगदर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। दर्शन भ्रष्ट को कभी निर्वाण-प्राप्ति नहीं होती। चरित्रहीन सम्यगदृष्टि तो सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु सम्यगदर्शन से रहित सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते।

५६. सम्यक्त्वस्य च लाभ-स्त्रैलोक्यस्य च भवेत् यो लाभः।
सम्यगदर्शनलाभो, वरं खलु त्रैलोक्यलाभात्॥२२५॥

एक ओर सम्यक्त्व का लाभ और दूसरी ओर त्रैलोक्य का लाभ होता हो तो त्रैलोक्य के लाभ से सम्यदर्शन का लाभ श्रेष्ठ है।

५७. किं बहुना भणितेन, ये सिद्धाः नरवराः गते काले।

सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः तद् जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यं॥२२६॥

अधिक क्या कहें? अतीतकाल में जो श्रेष्ठजन हुए हैं और जो आगे सिद्ध होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य है।

५८. यथा सलिलेन न लिप्यते, कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या।

तथा भावेन न लिप्यते, कषायविषयैः सत्पुरुषः॥२२७॥

जैसे कमलिनी का पत्र स्वभाव से ही जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही सत्पुरुष सम्यक्त्व के प्रभाव से कषाय और विषयों से लिप्त नहीं होता।

५९. सम्यग्दृष्टसरे जीवा निःशङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन।

सप्तभयविप्रमुक्ता, यस्मात् तस्मात् तस्मात् तु निःशङ्का॥२२८॥

सम्यग्दृष्टि जीव निःशङ्क होते हैं और इसी कारण निर्भय भी होते हैं। वे सात प्रकार के भयों—इस लोक का भय, परलोक का भय, अरक्षा-भय, अगुप्ति भय, मृत्यु भय, वेदना-भय और अकस्मात् भय—से रहित होते हैं, इसीलिए निःशङ्क होते हैं।

अर्थात् निःशङ्कता और निर्भयता दोनों एक साथ रहने वाले गुण हैं।

६०. यस्तु न करोति काङ्क्षाम् कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु।

सनिष्काङ्क्षचेतयिता, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः॥२२९॥

जो समस्त कर्मफलों में और सम्पूर्ण वस्तु धर्मों में किसी भी प्रकार की आकांक्षा नहीं रखता, उसीको निरकांक्ष सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

७. सम्यक्त्व सूत्रम्

६१. न सत्कृतिमिच्छन्ति न पूजां, नोऽपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम्।

स संयतः सुव्रतस्तपस्वी, सहित आत्मगवेषकः स भिक्षुः॥२३०॥

जो सत्कार, पूजा और वन्दना तक नहीं चाहता, वह किसी से प्रशंसा की अपेक्षा कैसे करेगा? वास्तव में जो संयत है, सुब्रती है, तपस्वी है और आत्मगवेषी है वही भिक्षु है।

६२. ख्याति-पूजा-लाभं, सत्कारादि किमिच्छसि योगिन्!।

इच्छसि यदि परलोकं तैः किं तव परलोके?।।२३५।।

हे योगी! यदि तू परलोक चाहता है तो ख्याति, लाभ, पूजा और सत्कार आदि क्यों चाहता है? क्या इनसे तुझे परलोक का सुख मिलेगा?

६३. यो न करोति जुगुप्सां, चेतयिता सवेषामेव धर्माणाम्।

सः खलु निर्विचिकित्सः, सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः।।२३६।।

जो किसी भी धर्म के प्रति ग्लानि नहीं करता, उसी को निर्विचिकित्सा गुण का धारक सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

६४. ज्ञानेन दर्शनेन च, चरित्रेण तथैव च।

क्षान्त्या मुक्त्या, वर्धमानो भव च।।२३८।।

ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, शान्ति एवं निर्लोभता के द्वारा आगे बढ़ना चाहिये—जीवन को वर्धमान बनाना चाहिये।

६५. यत्रैव पश्येत् क्वचित् दुष्प्रयुक्तं,

कायेन वाचा अथ मानसेन।

तत्रैव धीरः प्रतिसंहरेत् आजानेयः (जात्यश्वः)

क्षिप्रमिव खलीनम्।।२४०।।

जब कभी अपने में दुष्प्रयोग की प्रवृत्ति दिखाई दे, धीर पुरुष उसे तत्काल ही समेट ले, जैसे कि घोड़ा लगाम के द्वारा शीघ्र ही सीधे रास्ते पर आ जाता है।

६६. यः धार्मिकेषु भक्तः अनुचरणं करोति परमश्रद्धया।

प्रियवचनं जल्पन्, वात्सल्य तस्य भव्यस्य।।२४२।।

जो धार्मिकजनों को प्रेम करता है, परम् श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करता है तथा प्रिय वचन बोलता है उस भव्य सम्यग्दृष्टि के वात्सल्य होता है।

६७. श्रुत्वा जानाति कल्याणं, श्रुत्वा जानाति पापकम्।

उभयमपि जानाति श्रुत्वा, यत् छेकं तत् समाचरेत्॥२४५॥

साधक सुनकर ही कल्याण का मार्ग जान सकता है। सुनकर ही पाप का मार्ग जाना जा सकता है। अतः सुनकर ही हित और अहित दोनों का मार्ग जानकर जो श्रेयस्कर हो उसका आचरण करना चाहिये।

६८. सूची यथा ससूत्रा, न नश्यति कचवरे पतिताऽपि।

जीवोऽपि तथा ससूत्रो, न नश्यति गतोऽपि संसारे॥२४८॥

जैसे धागा पिरोयी हुई सुई कचरे में गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही शास्त्रज्ञानयुक्त जीव संसार में पड़कर भी नष्ट नहीं होता।

६९. सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टा, जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि।

आराधनाविरहिता, भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव॥६९॥

सम्यक्त्वरूपी रत्न से शून्य अनेक प्रकार के शास्त्रों के ज्ञाता व्यक्ति भी आराधनाविहीन होने से इधर-उधर भ्रमण करते रहते हैं।

७०. आत्मानमजानन्, अनात्मानं चापि सोऽजानन्।

कथं भवति सम्यग्दृष्टि-जीवाजीवान् अजानन्॥२५१॥

इस तरह जब वह जीव-अजीव तत्त्व को नहीं जानता, तब वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?

८. साधना सूत्रम्

७१. यः आत्मानं जानाति, अशुचिशरीरात् तत्त्वतः भिन्नम्।

ज्ञायकरूपस्वरूपं, स शास्त्रं जानाति सर्वम्॥२५५॥

जो आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वतः भिन्न तथा ज्ञायक भावरूप जानता है, वही समस्त शास्त्रों को जानता है।

७२. यः एकं जानाति, स सर्वं जानाति।

यः सर्वं जानाति, स एकं जानाति॥२५८॥

जो एक आत्मा को जानता है वह सब को जानता है। जो सबको आत्मवत् जानता है, वह एक को परमात्मा को जानता है।

७३. स्तोके शिक्षिते जयति, बहुश्रुतं यश्चारित्रसम्पूर्णः।

यः पुनश्चारित्रहीनः, किं तस्य श्रुतेन बहुकेन॥२६७॥

चरित्रसम्पन्न का अल्पतम ज्ञान भी बहुत है और चरित्र विहीन का बहुत श्रुतज्ञान भी निष्फल है।

७४. समता तथा माध्यस्थ्यं, शुद्धो भावश्च वीतरागत्वम्।

तथा चारित्रं धर्मः, स्वभावाराधना भणिता॥२७५॥

समता माध्यस्थ भाव, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्व-भाव-आराधना-ये सब एकार्थक हैं।

७५. यस्य न विद्यते रागो, द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु।

नाऽऽस्रवति शुभमशुभं, समसुखदुःखस्य भिक्षोः॥२७६॥

जिसका समस्त द्रव्यों के प्रति राग, द्वेष और मोह नहीं है तथा जो सुख दुख में समभाव रखता है, उस भिक्षु के शुभाशुभ कर्मों का दोष नहीं होता है।

७६. तस्यैष मार्गो गुरुवृद्ध सेवा, विवर्जना बालजनस्य दूरात्।

स्वाध्यायैकान्तनिवेशना च, सूत्रार्थसंचिन्तनता धृतिश्च॥२९०॥

गुरु तथा वृद्धजनों की सेवा करना, अज्ञानी लोगों के सम्पर्क से दूर रहना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, मंत्रों का अर्थ चिन्तन करना तथा धैर्य रखना, ये दुःखों से छूटने के उपाय हैं।

७७. हिताहारा मिताहारा अल्पाहाराः च ये नरा।

न तान् वैद्याः चिकित्सन्ति आत्मानं ते चिकित्सकाः॥२९२॥

जो मनुष्य हित-मित तथा अल्प आहार करते हैं, उन्हें कभी वैद्य से चिकित्सा कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वे तो स्वयं अपने चिकित्सक होते हैं।

७८. संप्राप्त दर्शनादिः, प्रतिदिवसं यतिजनाच्छृणोति च।

समाचारीं परमां यः खलु तं श्रावकं ब्रवते॥३०१॥

जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति प्रतिदिन यतिजनों से परम सदाचार विषयक उपदेश श्रवण करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

७९. मांसाशनेन वर्धते दर्पः दर्पेण मद्यम् अभिलषति।

द्यूतम् अपि रमते ततः तद्

अपि वर्णितान् प्राप्नोति दोषान्॥३०५॥

मांसाहार से घमंड बढ़ता है। दर्प से मनुष्य में मद्यपान की इच्छा जागती है और तब वह जुआ भी खेलता है। तत्पश्चात् एक मांसाहार से ही मनुष्य वर्णित सात व्यसन, व्यभिचार, द्यूत, नशा, शिकार, कटुवाणी प्रयोग क्रूरता तथा चोरी करने लगता है।

८०. दानं भोजनमात्रं, दीयते धन्यो भवति सागरः।

पात्रापात्रविशेषसंदर्शने किं विचारेण॥

भोजनमात्र का दान करने से भी गृहस्थ धन्य होता है। इसमें पात्र और अपात्र का विचार करने से क्या लाभ?

९. समता सूत्रम्

८१. सिंह गज वृषभ मृग पशु, मारुत सूर्योदधि मन्दरेन्दुमणयः।

क्षिति उरगाम्बरसदृशाः, परमपद विमार्गकाः साधवः॥३३७॥

परमपद की खोज में निरत साधु सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी, वृषभ के समान भद्र, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह, वायु के समान निस्संग, सूर्य के समान सहिष्णु, सर्प के समान कांतिमान, पृथ्वी के समान सहिष्णु, सर्प के समान अनियम-आश्रयी तथा आकाश के समान निरवलम्ब होते हैं।

८२. बहवः इमे असाधवः, लोके उच्यन्ते साधवः।

ना लपेदसाधुं इति साधुं साधुः इति आलपेत्॥

ऐसे भी बहुत से असाधु हैं जिन्हें संसार में साधु कहा जाता है। लेकिन असाधु को साधु नहीं कहना चाहिये, साधु को ही साधु कहना चाहिये।

८३. नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः, न ओंकारेण ब्राह्मणः।

न मुनिरण्यवासेन, कुशचीरेण न तापसः॥३४०॥

केवल सिर मुड़ाने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम् का जप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता, कुश चीवर धारण करने से कोई तपस्वी नहीं होता।

८४. समतया श्रमणो भवति, ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः।

ज्ञानेन च मुनिर्भवति, तपसा भवति तापसः॥

मनुष्य समता से श्रमण होता है, ब्रह्मवत् समदर्शन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप से तपस्वी होता है।

८५. गुणैः साधुरगुणैरसाधुः गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधु (गुणान्)।

विजानीयात् आत्मानमात्मना, यः रागद्वेषयोः समः स पूज्यः॥३४२॥

गुणों से कोई साधु होता है और अगुणों से असाधु। अतः साधु के गुणों को ग्रहण करो और असाधुता का त्याग करो। आत्मा को आत्मा के द्वारा जानते हुए जो राग द्वेष में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

८६. किं करिष्यति वनवासः, कायक्लेशो विचित्रोपवासः।

अध्ययनमौनप्रभृतयः, समता रहितस्य श्रमणस्य॥३५४॥

समता रहित श्रमण का वनवास, कायक्लेश, विचित्र उपवास अध्ययन और मौन व्यर्थ है।

८७. पैशुन्यहासकर्कश परनिन्दाऽऽत्मप्रशंसा विकथादीन्।

वर्जयित्वा स्वपरहितं, भाषासमितिः भवेत् कथनम्॥४०२॥

दुष्टता, हास्य, कर्कश-वचन, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, अश्लीलता का त्याग करके अपने तथा दूसरों के लिए हितकारी वचन बोलना ही भाषा समिति है।

८८. यथा द्रुमस्य पुष्पेषु, भ्रमरः आपिवति रसम्।

न च पुष्पं क्लामयति, स च प्रीणात्यात्मानम्॥४०७॥

जैसे भ्रमर पुष्पों को तनिक भी पीड़ा पहुँचाये बिना रस ग्रहण करता है और अपने को तृप्त करता है।

८९. एवमेते श्रमणाः मुक्ता, ये लोके सन्ति साधवः।

विहंगमा इव पुष्पेषु, दानभक्तैषणारताः॥४०८॥

वैसे ही लोक में विचरण करने वाले श्रमण दाता को किसी भी प्रकार का कष्ट दिये बिना उसके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करते हैं। यही उनकी एषणा समिति है।

९०. समभावो सामयिकं, तृणकाञ्चनशत्रुमित्रविषयः इति।

निरभिष्वङ्गं चित्तं, उचित प्रवृत्तिप्रधानं च॥४२३॥

तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही संयम है। रागद्वेषरूप अभिष्वङ्गरहित ध्यान तथा उचित प्रवृत्ति प्रधान चित्त को सामयिक कहते हैं।

१०. समन्वय सूत्रम्

९१. यः समः सर्वभूतेषु, स्थावरेषु तृणेषु वा।

तस्य सामयिकं स्थायि, इति केवलिशासने॥४२६॥

जो सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है, उसकी सामयिक स्थायी होती है, ऐसा केवलि शासन में कहा गया है।

९२. ध्याननिलीनः साधुः परित्यागं करोति सर्वदोषाणाम्।

तस्मात् तु ध्यानमेव हि, सर्वातिधारस्य प्रतिक्रमणम्॥४३३॥

ध्यान में लीन साधु सब दोषों का परित्याग करता है। इसलिये ध्यान ही समस्त दोषों का प्रतिक्रमण है।

९३. ये प्रतनुभक्तपानाः, श्रुतहेतास्ते तपस्विनः समये।

यच्च तपः श्रुतहीनं, ब्राह्मः सः क्षुदाधारः॥४४३॥

जो शास्त्राभ्यास के लिये अल्पआहार करते हैं वे ही आगम में तपस्वी माने गये हैं। श्रुतिविहीन अनशन तप तो केवल भूखे मरना है।

१४. अभ्युत्थानमञ्जलिकरणं, तथैवासनदानम्।

गुरुभक्तिभावशुश्रूषा, विनय एष व्याख्यातः॥४६६॥

गुरु तथा वृद्धजनों के समक्ष आने पर खड़े होना, हाथ जोड़ना, उन्हें उच्च आसन देना, गुरुजनों की भावपूर्वक भक्ति तथा सेवा करना विनय तप है।

१५. विनयाधीताः विद्याः, ददति फलम् इह परत्र च लोके।

न फलन्ति विनयहीनाः सस्यानीव तोयहीनानि॥४७१॥

विनयपूर्वक प्राप्त की गई विद्या इस लोक तथा परलोक में फलदायिनी होती है और विनयहीन विद्या का फलप्रद नहीं होती जैसे बिना जल के धान्य नहीं उपजता।

१६. पूर्वाभिमुखः उत्तरमुखो वा भूत्वा शुचिसमाचारः।

ध्याता समाधियुक्तः सुखासनस्थः शुचि शरीरः॥४८८॥

पूर्व या उत्तर दिशामुख होकर बैठने वाला शुद्ध आचार तथा पवित्र शरीर वाला ध्याता सुखासन से स्थित हो समाधि में लीन होता है।

१७. परद्रव्यात् दुर्गतिः, स्वद्रव्यात् खलु सुगतिः भवति।

इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये, कुरुत रतिं विरतिम् इतरस्मिन्॥५८७॥

परद्रव्य से अनुरक्त होने से दुर्गति होती है और स्वद्रव्य अर्थात् अपनी आत्मा में लीन होने से सुगति होती है। ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रत रहो और परद्रव्य से विरत।

१८. सर्वत्र अपि प्रियवचनं, दुर्वचने दुर्जने अपि क्षमाकरणम्।

सर्वेषां गुणग्रहणं, मन्दकषायाणां दृष्टान्ताः॥५९९॥

सर्वत्र हि प्रियवचन बोलना, दुर्वचन बोलने वाले को भी क्षमा करना तथा सबके गुणों को ग्रहण करना ये पुण्यात्मा जीवों के लक्षण हैं।

९९. यत्पुनः समस्तपर्याय-वस्तुगमका इति समुदितास्तेन।

सम्यक्त्वं चक्षुष्मन्तः, सर्वगजावयवग्रहण इव॥७३२॥

जैसे हाथी के समस्त अंगों के समुदाय को हाथी जानने वाले चक्षुष्मान का ज्ञान सम्यक् होता है वैसे ही समस्त समुदाय द्वारा वस्तु के समस्त पर्यायों को या उसके धर्मों को जानने वाले का ज्ञान सम्यक् होता है।

१००. स्वकं स्वकं प्रशंसन्तः, गर्हयन्तः, परं वचः।

ये तु तत्र विद्वस्यन्ते, संसारं ते व्युच्छिन्ता॥७३४॥

जो पुरुष केवल अपने मत की प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे के वचनों की निन्दा करते हैं और इस तरह अपना पांडित्य प्रदर्शन करते हैं, वे संसार बंधन में मजबूती से जकड़े हुए हैं।

परिशिष्टम्-२

बुद्ध दर्शनम्

१. नहि वैरेण वैराणि शाम्यान्तीह कदाचन्।
अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः॥

वैर से वैर कदापि शान्ति नहीं होता। अवैर से ही शान्त होता है यह सनातन धर्म है।

२. अनिष्कषायः काषायं यो वस्त्रं परिधास्यति।
अपेतो दमसत्याभ्यां न स काषायमर्हति॥१॥

जो मनुष्य राग द्वेष आदि दोषों को त्यागे बिना काषाय वस्त्रों को धारण करता है, इन्द्रिय-दमन और सत्य से दूर हुआ मानव काषाय वस्त्रों के धारण करने का अधिकारी नहीं है।

३. यश्च वान्तकषायः स्यात् शीलेषु सुसमाहितः।
उपेतो दमसत्याभ्यां स वै काषायमर्हति॥१०॥

और जिसने दुर्गुणों का त्याग कर दिया है शीलाचार से सम्पन्न है संयम और सत्य से संयुक्त है निश्चय ही वह मनुष्य काषाय वस्त्रों का अधिकारी है।

४. सारञ्च सारतो ज्ञात्वा असारञ्च असारतः।
ते सारमधिगच्छन्ति सम्यक्-संकल्प गोचराः॥१२॥

जो सार को सार जानते हैं और असार को असार जानते हैं वस्तुतः वही सम्यक् संकल्पों को देखने वाले व्यक्ति सार-तत्त्व को प्राप्त करते हैं।

५. उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशम्यकारिणः।
संयतस्य च धर्मजीविनोऽप्रमत्तस्य यशोऽभिवर्द्धते॥

जो मनुष्य उद्योगी है, स्मृतिमान है पवित्र और विचार कर कार्य करने वाला है, संयत तथा धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला एवं अप्रमादी है वही यशस्वी होता है।

६. अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः।

अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा॥३०॥

अप्रमाद के कारण इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए, सभी अप्रमाद की प्रशंसा करते हैं और प्रमाद सदा ही निन्दित है।

७. न तत मातापितरौ कुर्यातामान्ये चापि च ज्ञातिकाः।

सम्यक् प्रणिहितं चित्तं श्रेयासं एनं ततः कुर्यात्॥

माता-पिता या अन्य बन्धु-बान्धव उतनी भलाई नहीं कर सकते, जितनी की सम्यक् रूप से वशीभूत चित्त भलाई कर सकता है।

८. यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धमधनम्।

पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिच्चरेत्॥४१॥

जिस प्रकार भँवरा फूल की गन्ध एवं रूप को हानि पहुँचाये बिना रस को लेकर चला जाता है उसी प्रकार गाँव में मुनि विचरण करें।

९. न परेषां विलोभानि न परेषां कृताकृतम्।

आत्मनो हि अवक्षेत कृतानि अकृतानि च॥५०॥

मनुष्य दूसरों के दोष तथा उचित और अनुचित कार्यों को न देखें अपितु यह केवल अपने अच्छे और बुरे कार्यों को ही देखें।

१०. यथापि रुचिरं पुष्पं वर्णवत् सगन्धकम्।

एवं सुभाषिता वाक् सफला भवति कुर्वतः॥५२॥

जिस प्रकार सुन्दर, वर्णयुक्त पुष्प गन्धवान होने से सफल होता है उसी प्रकार आचरण में प्रयोग करने वाले की सुभाषित वाणी भी सफल एवं सार्थक होती है।

पण्डित वर्गः

११. चन्दनं तगरं वापि उत्पलमथ वार्षिकी।

एतेषां गन्धजातानां शीलगन्धोऽनुत्तरः॥५५॥

चन्दन, तगर, कमल तथा जूही इन फूलों की गन्ध से सदाचार की गन्ध अधिक श्रेष्ठ है।

१२. यो बालो मन्यते बाल्यं पण्डितो चापि तेन सह।
बालश्च पण्डितमानी स वै बाल इत्युच्यते॥६३॥

जो अज्ञानी होकर अपनी अज्ञानता से परिचित होता है वह वस्तुतः पण्डित है। किन्तु जो मूर्ख होकर भी अपने को पण्डित मानता है वही मूर्ख कहलाता है।

१३. मुहूर्तमपि चेद् विज्ञः पण्डितं पर्युपासते।
क्षिप्रं धर्मं विजानाति जिह्वा सूपरसं यथा॥

भले ही वेद विज्ञ व्यक्ति क्षणभर पण्डित (विद्वान्) की सेवा में रहे; वह भी शीघ्र ही धर्म को जान लेता है, जैसे जिह्वा दाल के स्वाद को जान लेती है।

१४. तच्च कर्म कृतं साधु यत् कृत्वा नानुत्पद्यते।
यस्य प्रतीतः सुमनो विपाकं प्रतिसेवते॥६८॥

वह कार्य करना अच्छा है जिसके करने से पश्चाताप नहीं करना पड़ता है, जिसके परिणाम को प्रसन्न मन से भोगता है।

१५. निधीनामिव प्रवक्तारं यं पश्येत् वर्ज्यदर्शिनम्।
निगृह्यवादिनं मेधाविनं तादृशं पण्डितं भजेत्॥७६॥

निधियों को बतलाने की भांति जो बुराई को दिखलाते हैं, संयमवादी और मेधावी हैं ऐसे पण्डित व्यक्ति की सेवा करनी चाहिये।

१६. अवदेदनुशिष्यात् असभ्याच्च निवारयेत्।
सतां हि स प्रियो भवति असतां भवत्यप्रियः॥७७॥

जो उपदेश देता है, अनुशासित करता है तथा असभ्यता का निवारण करता है, वह सज्जनों के लिए प्रिय तथा दुष्टों के लिए अप्रिय होता है।

१७. न भजेत् पापानि मित्राणि न भजेत् पुरुषाधमान्।
भजेत् मित्राणि कल्याणानि भजेत् पुरुषोत्तमान्॥७८॥

पापी मित्रों का साथ न करें, नीच पुरुषों का साथ न करें, नीच पुरुषों का सं न करें। कल्याणकारी मित्र का साथ करें और उत्तम पुरुषों का सत्संग करें।

१८. धर्मपीती सुखं शेते विप्रसन्नेन चेतसा।

आर्यप्रवेदिते धर्मे सदा रमति पण्डितः॥७९॥

धर्म (रस) का पान करने वाला सुखपूर्वक प्रसन्न-चित्त हो शयन करता है, आर्यों के द्वारा बतलाये हुए धर्म में पण्डित जन रमण करते हैं।

१९. शैलो यथा एकघनः वातेन न समीर्यते।

एवं निन्दा प्रशंसासु न समीर्यन्ते पण्डिताः॥८१॥

जैसे ठोस पर्वत को वायु द्वारा कम्पित नहीं किया जा सकता वैसे ही पण्डित लोग निन्दा तथा प्रशंसा से विचलित नहीं होते हैं।

२०. यथापि हृदो गम्भरो विप्रसन्नोऽनाविलः।

एवं धर्मान् श्रुत्वा विप्रसीदन्ति पण्डिताः॥८२॥

जिस प्रकार गहरा तालाब स्वच्छ एवं निर्मल होता है उसी प्रकार पण्डित धर्म (उपदेशों) को सुनकर स्वच्छ हो जाते हैं।

३. सहस्रवर्गः

२१. सर्वत्र वै सत्पुरुषा ब्रजन्ति न कामकामा लपन्ति सन्तः।

सुखेन स्पृष्टा अथवा दुःखेन नोच्चावचं पण्डिता दर्शयन्ति॥८३॥

सत्पुरुष व्यक्ति सभी स्थानों पर चले जाते हैं, सज्जन कामनाओं की इच्छा करते हुए भी व्यर्थ का वार्तालाप नहीं करते हैं। सुख प्राप्त हो अथवा दुःख, किन्तु पण्डित आचरण में ऊँच-नीच अथवा विकारपूर्ण नहीं होते हैं।

२२. नात्महेतो न परस्य हेतो, न पुत्रमिच्छेन्न धनं न राष्ट्रम्।

न इच्छेदधर्मेण समृद्धिमात्मनः,

स शीलवान् प्रज्ञावान् धार्मिकः स्यात्॥८४॥

जो मनुष्य अपने लिए या किसी दूसरे के लिए पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहते हैं। अपनी अधर्म के द्वारा समृद्धि भी नहीं चाहते हैं। वही व्यक्ति शीलवान्, बुद्धिमान् और धार्मिक है।

२३. ये च खलु सम्यगाख्याते धर्मे धर्मानुवर्तितः।
ते जनाः पारमेष्ठ्यन्ति मृत्युधेयं सुदुस्तरम्॥८६॥

जो सम्यग् रूप से उपदेश दिये गये धर्म कापालन करते हैं, वे अत्यन्त कठिनाई से पार जाने योग्य मृत्यु के राज्य के पार चले जाते हैं।

२४. सहस्रमपि चेद् वाचः अनर्थ पद संहिता।
एकमर्थपदं श्रेयो यत् श्रुत्वोपशाम्यति॥१००॥

अर्थ रहित पदों वाले सहस्र वचनों से भी एक सार्थक पद अच्छा है जिसको सुनकर आत्मा शान्ति लाभ करती है।

२५. आत्मा ह वै जितः श्रेयान् या चेयमितरा प्रजा।
आत्मदान्तस्य पुरुषस्य नित्यं संयतचारिणः॥१०४॥

इन अन्य प्रजाओं पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा नित्य संयम से अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करना अधिक श्रेष्ठ है।

२६. यश्च वर्ष शतं जीवेत् कुसीनो हीनवीर्यः।
एकाहं जीवितं श्रेयो वीर्यमारभतो दृढम्॥११२॥

आलसी और पराक्रमहीन होकर जो सौ वर्ष तक जीवित रहता है उसकी अपेक्षा पराक्रमी और दृढ़तापूर्ण जीवन का एक दिन जीने वाला श्रेयस्कर है।

२७. यश्च वर्षशतं जीवेद् अपश्यन् अमृतं पदम्।
एकाहं जीवितं श्रेयः पश्यतोऽमृतं पदम्॥११४॥

अमृत के पद को न देखते हुए जो सौ वर्ष तक जीवन जीता है, उसकी अपेक्षा अमृत के स्थान सच्चिदानन्द को देखते हुए एक दिन जीवित रहना अधिक श्रेयस्कर है।

२८. योऽप्रदुष्टस्य नरस्य दुष्यति शुद्धाय पुरुषायऽनंजनाय।
तमेव बालं प्रत्येति पापं सूक्ष्मो रजः प्रतिवातमिव क्षिप्रम्॥१२५॥

जो मनुष्य दोष रहित शुद्ध, निर्मल मनुष्य को दोष लगाता है, उस मूर्ख पुरुष का पाप उसी प्रकार उसका अनुसरण करता है, जिस प्रकार सूक्ष्म धूल वायु के प्रतिकूल दिशा में फेंकने वाले का पीछा करती है।

२९. सर्वे त्रस्यन्ति दण्डात् सर्वेषां जीवितं प्रियम्।

आत्मानम् उपमां कृत्वा न हन्यात् न घातयेत्॥१३०॥

सभी प्राणी मरने से डरते हैं सभी को जीवन प्रिय है, अपने समान सभी को मानकर न किसी प्राणी को मारे और न मारने की प्रेरणा दे।

३०. मा वोचः परुषं किञ्चिद् उक्ताः प्रतिवदेयुः त्वाम्।

दुःखाः हि संरम्भकथाः प्रतिदण्डा स्पृशेयुः त्वाम्॥१३३॥

किसी से कठोर वचन न कहें, क्योंकि कठोरता से बोले हुए व्यक्ति भी वैसा ही उत्तर देंगे। क्रोधयुक्त कथन दुःख का कारण है और तुम्हें भी उसकी प्रतिक्रिया झेलनी पड़ेगी।

४. लोक वर्गः

३१. वेदना परुषां ज्यानिं शरीरस्य च भेदनम्।

गुरूकं वाऽप्याबाधं चित्तक्षेपं वा प्राप्नुयात्॥१३८॥

जो दूसरों पर दोषरोपण करता है उसे तीव्र वेदना, हीनता अंग भंग भयंकर बीमारी और चित्त का विक्षिप्त होना प्राप्त है।

३२. राजतो वोपसर्गं अभ्याख्यानां वा दारुणम्।

परिक्षयं वां ज्ञातीनां भोगानां वा प्रभञ्जनम्॥१३९॥

अथवा राजा से दण्ड की प्राप्ति भयंकर निन्दा, परिवार का विनाश, अथवा भोग्य वस्तुओं का क्षय।

३३. अथवाऽस्यागाराण्यग्निर्दहति पावकः।

कायस्य भेदाद् दुष्प्रज्ञो निरयं स उपपद्यते॥१४०॥

अथवा उसके घर को अग्नि जला देती है अथवा ऐसा दुर्बुद्धि मनुष्य शरीर त्यागने के अनन्तर नरक को प्राप्त होता है।

३४. अलंकृतश्चेदपि शमं चरेत् शान्तो दान्तो नियतो ब्रह्मचारी।

सर्वेषु भूतेषु निधाय दण्डं स ब्राह्मणः श्रमणः स भिक्षुः॥१४२॥

जो मनुष्य सम्पन्न होते हुए भी शान्ति पूर्वक विचरण करता है, शान्त, जितेन्द्रिय, संयमपूर्वक रहने वाला, ब्रह्मचारी रहता है, समस्त प्राणियों के

प्रति दण्ड का त्याग कर चुका है वस्तुतः वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही भिक्षु है।

३५. अचरित्वा ब्रह्मचर्यं अलब्ध्वा यौवने धनम्।

शेरते चापोऽतिक्षीण इव पुराणान्यनुतन्वन्तः॥१५६॥

जिसने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया है तथा यौवन में धनोपार्जन नहीं किया है, वे अति क्षीण धनुष के समान अतीत की बातों की चर्चा करते हुए दुःखी बने रहते हैं।

३६. आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत्।

अथान्यमनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डितः॥१५८॥

बुद्धिमान् पुरुष सर्व प्रथम स्वयं अपने को उचित कार्य में लगा दे। तत्पश्चात् दूसरे को उपदेश दे। इस प्रकार उसे दुःख-प्राप्ति नहीं होगी।

३७. सुकराण्यसाधूनि आत्मनो अहितानि च।

यद्वै हितं च साधु च तद्वै परमदुष्करम्॥१६३॥

कुकर्म तथा अपना अहित करने वाले कार्य करना सरल है किन्तु जो कर्म हितकारी और अच्छा है उसका करना अति कठिन है।

३८. उत्तिष्ठेत् न प्रमाद्येत् धर्मं सुचरितं चरेत्।

धर्मचारी सुखं शेते अस्मिन् लोके परस्मिंश्च॥१६८॥

उद्योगी बने, आलसी न बने, सदाचारपूर्ण धर्म का पालन करे, धर्म का आचरण करने वाला इस लोक में और परलोक में सुखपूर्वक रहता है।

३९. धर्मं चरेत् सुचरितं चरेत् न तं दुश्चरितं चरेत्।

धर्मचारी सुखं शेतेऽस्मिन् लोके परत्र च॥१६९॥

सदाचारपूर्ण धर्म का आचरण करे, दुश्चरित धर्म का आचरण न करे, धर्म का आचरण करने वाला लोक और परलोक दोनों ही जगह चैन पूर्वक सोता है।

४०. कृच्छ्रो मनुष्यप्रतिलाभः कृच्छ्रं मर्त्यानां जीवितम्।
कृच्छ्रं सद्धर्मश्रवणं कृच्छ्रो बुद्धानामुत्पादः॥१८२॥

मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है, मनुष्यों का जीवन कठिन है, सच्चा धर्म सुनना कठिन है और बुद्धों (परम ज्ञानियों का) का सत्संग भी दुर्लभ है।

५. बुद्ध वर्गः

४१. सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा।
स्वचित्तपर्यवदापनं एतद् बुद्धानां शासनम्॥१८३॥

पाप न करना पुण्य कर्मों का करना तथा अपने चित्त को विशुद्ध रखना—यह ज्ञानियों का उपदेश है।

४२. क्षान्तीः परमं तपः तितिक्षा निर्वाणं परमं वदन्ति बुद्धाः।
नहि प्रव्रजितः परोपघाती श्रमणः भवति परं पीडयन्॥१८४॥

सहिष्णुता परम तप है, तितिक्षा भी परम तप है, किन्तु निर्वाण सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा बुद्धिमानों का कथन है। दूसरों की हिंसा करने वाला प्रव्रजित नहीं होता है, और न ही दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला श्रमण होता है।

४३. अनूपवादोऽनूपघातः प्रातिमोक्षे च संवरः।
मात्राज्ञता च भक्ते प्रान्तं च शयनासनं॥
अधिचित्ते च आयोगः एतद् बुद्धानां शासनम्॥१८५॥

किसी की निन्दा न करना, किसी को चोट न पहुँचाना, परम शान्ति का पालन करना मिताहारी होना, एकान्त में सोना और बैठना, चित्त की वृत्तियों को निरोध करना—यह बुद्धों का उपदेश है।

४४. आरोग्यं परमो लाभः सन्तुष्टिः परमं सुखम्।
विश्वासः परमा ज्ञातिः निर्वाणं परमं सुखम्॥१८६॥

आरोग्य परम लाभ है। सन्तोष परम धन है। विश्वास सर्वश्रेष्ठ बन्ध है। निर्वाण परम सुख।

४५. साधु दर्शनमार्याणां सन्निवासः सदा सुखः।

अदर्शनेन बालानां नित्यमेव सुखी स्यात्॥२०६॥

आर्य पुरुषों का दर्शन मंगलदायक है, उनके साथ निवास सदा सुखकारी है, मूर्खों मनुष्य सदा सुखी रहे।

४६. तस्माद् हि धीरं च प्राज्ञं च बहुश्रुतं च धुर्यशीलं व्रतचन्तमार्यम्।
तं तादृशं सत्पुरुषं सुमेधं भजेत नक्षत्रपथमिव चन्द्रमाः॥२०८॥

जिस प्रकार चन्द्रमा नक्षत्र पथ का अनुसरण करता है, उसी प्रकार मनुष्य धीर, बुद्धिमान, बहुश्रुत, कर्मठस्वभाव, व्रती तथा आर्य पुरुष हो, ऐसे सत्यपुरुष और मेधावी का अनुसरण करें।

४७. शीलदर्शन सम्पन्नं धर्मिष्ठं सत्यवादिनम्।

आत्मनः कर्म कुर्वाणं तं जनः कुरुते प्रियम्॥२१७॥

जो शील और ज्ञान से सम्पन्न, धर्म में स्थित, सत्यवादी और अपने कार्य को करने वाला है, उससे सभी जन स्नेह करते हैं।

४८. यो वै उत्पतितं क्रोध रथं भ्रान्तमिव धारयेत्।

तमहं सारथिः ब्रवीमि, रश्मिग्राहः इतरो जनः॥२२२॥

जो उत्पन्न क्रोध को भ्रान्त रथ की तरह रोक लेता है, उसे मैं सारथी कहता हूँ, दूसरे व्यक्ति तो केवल लगाम पकड़ने वाले हैं।

४९. अक्रोधेन जयेत क्रोधं असाधु साधुना जयेत्।

जयेत् कदर्यं दानेन सत्येनालीकवादिनम्॥२२३॥

अक्रोध पर विजय प्राप्त करे। दुष्ट को भलाई से जीते। कृपण को दान देकर जीते, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीते।

५०. सत्यं भणेत न क्रुध्येत् दद्यादत्तल्पेऽपि याचितः।

एतैस्त्रिभिः स्थानैः गच्छेद् देवानामन्तिके॥२२४॥

सत्य बोले, क्रोध न करे, थोड़ा भी मांगने पर दे। इन तीन कर्मों से मनुष्य देवताओं के निकट पहुँचता है।

६. सुख वर्गः

५१. पुराणमेतद् अतुल! नैतद् अद्यतनमेव।

निन्दन्ति तूष्णीमासीनं नास्ति लोकेऽनिन्दितः॥२२७॥

हे अतुल! यह प्राचीन बात है आज की नहीं। संसार चुप रहने वाले की निन्दा करता है और बहुत बोलने वाले की भी। मितभाषी की भी निन्दा करते हैं संसार में अनिन्दित कोई नहीं है।

५२. च चाभूत् न च भविष्यन्ति त चैवात्र विद्यते।

एकान्तं निन्दितो पुरुष एकान्तं वा प्रशंसितः॥२२८॥

ऐसा व्यक्ति संसार में न पैदा हुआ है, न होगा, न आजकल है, जो पूर्णतः निन्दा के योग्य हो, या पूर्णतः प्रशंसा के योग्य हो।

५३. कायप्रकोपं रक्षेत् कायेन संवृतः स्यात्।

कायदुश्चरितं हित्वा कायेन सुचरितं चरेत्॥२२९॥

शरीर की रोगों से रक्षा करे, काया से संयम रहे, शरीर के दुश्चरित्र को त्याग कर शरीर से अच्छे कार्य करे।

५४. वचः प्रकोपं रक्षेद् वाचा संवृतः स्यात्।

वचो दुश्चरितं हित्वा सुचरितं चरेत्॥२३०॥

वाणी की बिकार से रक्षा करे, वाणी से संयत रहे, वाणी की कठोरता को छोड़कर, वाणी से अच्छे चरित्र का पालन करे।

५५. मनः प्रकोपं रक्षेत् मनसा संवृतः स्यात्।

मनो दुश्चरितं हित्वा मनसा सुचरितं चरेत्॥२३१॥

मन की क्रोध से रक्षा करे, मन से संयत रहे। मन के दुश्चरित्र का परित्याग कर, मन से अच्छे चरित्र का पालन करे।

५६. कायेन संवृताः धीरा अथ वाचा संवृताः।

मनसा संवृताः धीरा ते वै सुपरिसंवृताः॥२३२॥

जो धैर्यवान् शरीर से संयत हैं, वाणी से संयत हैं, तथा मन से संयत हैं, वह निश्चय ही संयत हैं।

५७. अनुपूर्वेण मेधावी स्तोकं स्तोकं क्षणे क्षणे।

कर्मारो रजतस्येव निर्धमेत् मलमात्मनः॥२३९॥

बुद्धिमान् पुरुष क्रमशः धीरे-धीरे जैसे सुनार चाँदी के मैल को धीरे-धीरे क्रमशः जलाता है, वैसे ही अपने मल को जलावे।

५८. अस्वाध्याय मला मंत्रा अनुत्थानमला गृहाः।

मलं वर्णस्य कौसीद्यं प्रमादो रक्षतो मलम्॥२४१॥

स्वाध्याय न करना वेदमन्त्रों का मैल है, घर की सफाई न करना घर का मैल है, गन्दगी रंग का मल है और प्रमाद रक्षक का मैल है।

५९. ततो मलात् मलतरं अविद्या परमं मलम्।

एतद् मलं प्रहाय निर्मला भवत भिक्षवः॥२४३॥

सभी मलों से भी बड़ा मल अविद्या है, हे भिक्षुओ! इस मल का त्याग कर तुम निर्मल बनो।

६०. सुदर्श वद्यमन्येषां आत्मनः पुनर्दुर्दर्शम्।

परेषां हि स वद्यानि अवपुनाति यथातुषम्।

आत्मनः पुनः छादयति कलिमिव कितवात् शठः॥२५२॥

दूसरों के दोष देखना सरल है, अपने दोष देखना कठिन है, इसलिए वह दूसरों के दोषों को भूसे की तरह फैलाता है परन्तु अपने दोषों की इस तरह छिपाता है जैसे जुआरी अपने पासों को।

७. धर्म वर्गः

६१. परवद्याऽनुदर्शिनो नित्यं उदध्यानसंज्ञिनः।

आस्त्रवाः तस्य बद्धन्ते आरात्स आस्त्रवक्षयात्॥२५३॥

दूसरों के दोषों को देखने वाले और दूसरों से चिढ़ने वाले मनुष्य के चित्त के मैल बढ़ जाते हैं। वह चित्त के मल के नाश से बहुत दूर हो जाता है।

६२. न तेन पण्डितो भवति यावता बहु भाषते।

क्षेमी अवैरी अभयः पण्डित इति प्रोच्यते॥२५८॥

बहुत भाषण करने से कोई पण्डित नहीं होता है, जो कल्याण चाहने वाला है, शत्रुता से रहित है और निर्भय है, वही पण्डित कहलाता है।

६३. यस्मिन् सत्यं च धर्मश्चाहिंसा संयमो दमः।

स वै वान्तमलः धीरः स्थविरः इति चोच्यते॥२६१॥

वस्तुतः स्थविर धीर वही कहा जाता है जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम तथा इन्द्रिय दमन हैं और जिसने समस्त दोष धो दिये हैं।

६४. न तेन आर्यो भवति येन प्राणान् हिंसति।

अहिंसा सर्वप्राणानां आर्य इति च प्रोच्यते॥२७०॥

जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह व्यक्ति आर्य नहीं हो सकता है। जो प्राणिमात्र पर अहिंसा का भाव रखता है, वह 'आर्य' कहा जाता है।

६५. उत्तीनकालेऽनुत्तिष्ठन् युवा बली आलस्यमुपेतः।

संसन्नसंकल्पमनाः कुसीदः प्रज्ञाया मार्गमलसी न विन्दति॥२८०॥

उठने के समय जो उठता नहीं है, युवा और शक्तिशाली होने पर भी आलस्य युक्त है, जिसके मन एवं संकल्प दुर्बल हैं, ऐसा दीर्घसूत्री और प्रमादी मनुष्य प्रज्ञा के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकता है।

६६. वाचानुरक्षी मनसा सुसंवृतः कायेन चाकुशलं न कुर्यात्।

एतान् त्रीन् कर्मपथान् विशोधयेत् आराधयेत्

मार्गं ऋषिवेदितम्॥२८१॥

वाणी की रक्षा करने वाला व्यक्ति सदा मन से संयमी रहे और शरीर से बुरे कर्म न करे। इन मन, बचन और शरीर तीनों कर्म पथों को शुद्ध कर ऋषियों द्वारा बतलाये हुये मार्ग की आराधना करे।

६७. योगात् वै जयते भूति अयोगाद् भूति संक्षयः।

एतं द्विधापथं ज्ञात्वा भवाय विभवाय च॥

तथात्मानं निवेशयेद् यथा भूति प्रवर्धते॥२८२॥

योग के अभ्यास से ज्ञान होता है, योग के अभ्यास न करने से वैभव का क्षय होता है। लाभ और क्षय इन पथों को जानकर, इस प्रकार अपने को कार्यों में लगावे कि जिससे वैभव की यथेष्ट वृद्धि हो।

६८. यद्धि कृत्यं अपविद्धं अकृत्यं पुनः कुर्युः।

उम्मलानां प्रमत्तानां तेषां वर्धन्ते आस्रवाः॥

जो कर्तव्य है उसे तो छोड़ देता है और अकर्तव्य को पुनः पुनः करता है, ऐसे बढ़े हुए मलिन चित्त वाले प्रमत्तों के चित्त के दोष बढ़ जाते हैं।

६९. श्रद्धा शीलेन सम्पन्नो यशो भोग समर्पितः।

यं यं प्रदेशं भजते तत्र तत्रैव पूजितः॥३०३॥

श्रद्धा और शील से सम्पन्न, यश और भोग से युक्त, मनुष्य जिस जिस देश में जाता है, वहाँ वह पूजा जाता है।

७०. अहं नाग इव संग्रामे चापतः पतितं शरम्।

अतिवाक्यं तितिक्षिष्ये, दुःशीला हि बहुजनाः॥

जैसे हाथी युद्ध भूमि में धनुष से छोड़े गये बाण को सहन करता है, वैसे ही मैं कटुवाक्यों को सहन करूँगा। संसार में दुष्ट व्यक्ति ही अधिक हैं।

७१. सचेत् लभेत निपक्वं सहायं अर्द्धं चरन्तं साधु विहारिणं धीरम्।

अभिभूय सर्वान् परिश्रयान् चरेत् तेनाऽत्मनाः स्मृतिमान्॥३२८॥

यदि अच्छा धैर्यवान सहायक प्राप्त साथ में चले, साथ-साथ विहार करे, समस्त विघ्नों का निवारण कर सचेत और वशीभूत मन वाला होकर यात्रा करे।

७२. सुखा मान्नीयता लोकेऽथ पित्रीयता सुखा।

सुखा श्रमणता लोकेऽथ ब्राह्मणता सुखा॥३३२॥

संसार में मातृत्व सुखकारी है, पितृत्व सुखकारी है, संसार में श्रवण बनना भी सुखकारी है, ब्राह्मण बनना भी सुखकर है।

७३. सर्वदानं धर्मदानं जयति सर्वरसं धर्मरसो जयति।

सर्वरतिं धर्मरतिर्जयति तृष्णाक्षयः सर्वदुःखं जयति॥३५४॥

समस्त दानों में धर्मदान उत्कृष्ट है, समस्त रसों में धर्मरस प्रबल है, समस्त रतियों से धर्म में रति उत्कृष्ट है, तृष्णा का नाश समस्त दुःखों को जीत लेता है।

७४. यो सुखसंयतो भिक्षुः मन्त्रभाणी अनुद्धतः॥

अर्थं धर्मं च दीपयति मधुरं तस्य भाषितम्॥३६३॥

जो मुख से संयत भिक्षु है, जो विचार कर बोलता है, जो उद्धत नहीं है, अर्थ और धर्म को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।

७५. सिञ्च भिक्षो! इमां नावं सिक्ता ते लघुत्वमेष्यति।

छित्वा रागञ्च द्वेषञ्च ततो निर्वाणमेष्यसि॥३७९॥

हे भिक्षु! इस नाव के जल को उलीच दो, जल के निकालने पर तुम्हारी नाव हल्की हो जायेगी। राग और द्वेष को दूर करके ही तुम निर्वाण को प्राप्त कर सकोगे।

७६. यस्य पारं अपारं वा पारापारं न विद्यते।

बीतदरं विसंयुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥३८५॥

जिसके लिये न यह पार है न वह अपार है मेरा-तेरा नहीं है, जो आत्म निर्भर और अनासक्त है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

७७. ध्यायिनं विरजमासीनं कृतकृत्यमनास्त्रवम्।

उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥३८६॥

ध्यानी, निर्मल, स्थिर आसन, कृतकृत्य, चित्त के मल से रहित जिसने चरम सत्य को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

७८. वाहितपाप इति ब्राह्मणः समचर्यः श्रमण इत्युच्यते।

प्राब्रजयन्नाऽऽत्मनो मलं सतमात् प्रब्रजित इत्युच्यते॥३८८॥

जिसने पाप को धोकर प्रवाहित कर दिया है, वह ब्राह्मण है जो सभ्यता का व्यवहार करता है, वह श्रमण है, क्योंकि उसने अपने चित्त के मल को अलग कर दिया है, इसलिए वह प्रब्रजित (संन्यासी) कहा जाता है।

७९. न ब्राह्मणस्य प्रहरेत् नास्मै मुञ्चेद् ब्राह्मणः।

धिग् ब्राह्मणस्य हन्तारं ततो धिग् यस्मै मुञ्चति॥३८९॥

ब्राह्मण पर प्रहार न करे, ब्राह्मण भी प्रहार करने वाले पर प्रहार न करे। ब्राह्मण को मारने वाले को धिक्कार है और कोप करने वाले को भी धिक्कार है।

८०. यस्य कायेन वाचा मनसा नास्ति दुष्कृतम्।

संवृतं त्रिभिः स्थानैः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥३९१॥

जिसके शरीर, वाणी और मन से पाप नहीं होते हैं जो इन तीनों ही स्थानों से संयतम है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९. भिक्षु वर्गः

८१. न जटाभिः न गोत्रेण न जात्या भवति ब्राह्मणः।

यस्मिन् सत्यं च धर्मश्च स सुखी स च ब्राह्मणः॥३९३॥

न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से मनुष्य ब्राह्मण होता है अपितु जिसमें सत्य और धर्म है, वह शुद्ध है और वही ब्राह्मण है।

८२. आक्रोशं वधबन्धञ्चादुष्टो यस्तितिक्षति।

क्षान्तिबलं बलानीकं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥३९९॥

जो मनुष्य बिना दूषित हृदय हुए गाली, बध और बन्धन को सहन करता है। क्षमा-बल ही जिसका बल है और वही जिसकी सेना है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८३. वारि पुष्करपत्र इव आराग्र इव संर्षपः।

यो न लिप्यते कामेषु तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४०१॥

कमल के पत्ते पर जल तथा आरे की धार पर सरसों की तरह जो काम भोगों में अनुरक्त नहीं होता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८४. यो दुःखस्य प्रजानातीहैव क्षयमात्मनः।

पन्नभारं विसंयुक्त तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४०२॥

जो इसी जन्म (इहैव) में अपने दुःख के विनाश को जान लेता है। जिसने भार को अलग कर दिया है, और जो आसक्तिरहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८५. गम्भीरप्राज्ञं मेधाविनं मार्गामार्गस्य कोविदम्।

उत्तमार्थमनुप्राप्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४०३॥

जो गम्भीर बुद्धिवाला है, मेधावी है और उचित अनुचित मार्ग का जानने वाला है और जिसने उत्तम अर्थ को प्राप्त कर लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८६. निधाय दण्डं भूतेषु त्रसेषु स्थावरेषु च।

यो न हन्ति न घातयति तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४०५॥

जो चर और अचर समस्त प्राणियों के प्रति दण्ड के प्रयोग से विरत है, जो न मारता है, न मारने की प्रेरणा देता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८७. अविरुद्धं विरुद्धेषु आत्मदण्डेषु निवृत्तम्।

सादानेष्व नादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४०६॥

जो विरोधियों के मध्य में विरोध रहित है, जो दंडधारियों में दण्डरहित है, संग्रह करने वालों में जो संग्रह नहीं करता है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८८. यस्य रागश्च द्वेषश्च मानो भ्रक्षश्च पातितः।

सर्षप इव आराग्रात् तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४०७॥

जिसके राग, द्वेष, मान तथा दम्भ आदि इस प्रकार गिर कर नष्ट हो गये हैं जिस प्रकार आरे की धार से सरसों के दाने गिर पड़ते हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८९. अकर्कशं विज्ञापनी गिरं सत्यां उदीरयेत्।

यया नाऽभिषजेत् किञ्चित् तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्॥४०८॥

जो मीठा, ज्ञानपूर्ण, सत्य तथा हितकारी वाणी को बोलता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९०. चन्द्रमिव विमलं शुद्धं विप्रसन्नमनाविलम्।

नन्दीभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१३॥

जो चन्द्रमा की तरह निर्मल है, शुद्ध है, स्वच्छ एवं निष्कलंक है, तथा समस्त तृष्णा जिसकी क्षीण हो गयी है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१०. ब्राह्मण वर्गः

११. य इमं प्रतिपथं दुर्गं संसारं मोहमत्यगात्।

अनुपादाय निर्वृतः तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१४॥

जिसने इस दुर्गम संसार के जन्म मरण के चक्कर को त्याग दिया है। जो अनासक्त और मुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१२. य इह कामान् प्रहायानागारः परिव्रजेत्।

कामभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१५॥

जो इस संसार में कामनाओं को त्याग कर गृहरहित होकर प्रव्रजित हो जाता है, जिसकी आसक्ति नष्ट हो गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१३. य इह तृष्णां प्रहायानागारः परिव्रजेत्।

तृष्णाभवपरिक्षीणं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१६॥

जो इस संसार में तृष्णा को त्यागकर संन्यासी हो जाता है, जिसकी तृष्णा और पुनर्जन्म नष्ट हो गये हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१४. हित्वा मानुषकं योगं दिव्यं योगं उपात्यगात्।

सर्वयोग विसंसुक्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१७॥

जो मानवी भोगों को त्याग कर, दिव्य भोगों के लाभ से भी दूर हो गया है, जो समस्त आसक्तियों से विमुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१५. हित्वा रतिञ्चारतिं च शीतिभूतं निरुपधिम्।

सर्वलोकाऽभिभुवं वीरं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१८॥

रति और अरति को छोड़ कर, जो शान्त स्वभाव का है और जो सभी के लिए प्रिय है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१६. च्युतिं यो वेद सत्त्वानां उपपत्तिं च सर्वशः।

असक्तं सुगतं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४१९॥

जो प्राणियों के विनाश और उत्पत्ति को अच्छी तरह से जानता है, जो आसक्ति रहित, सुगत और बुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९७. यस्य गतिं न जानन्ति देवगन्धर्वमानुषा।

क्षीणास्त्रवं अरहन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४२०॥

जिसकी गति को देव, गन्धर्व और मनुष्य नहीं जानते हैं, जिसके रागादि आस्रव क्षीण हो चुके हैं और जो अर्हत है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९८. यस्य पुरश्च पश्चात्त्व मध्ये च नास्ति किञ्चन।

अकिञ्चनमनादानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४२१॥

जिसे अतीत भविष्य और वर्तमान में किसी वस्तु से आसक्ति नहीं है, जो अकिञ्चन है अपरिग्राही है—उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९९. ऋषभं प्रवरं वीरं महर्षिं विजितमवापम्।

अनेजं स्नातकं बुद्धं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४२२॥

जो ऋषभ प्रवर है, वीर है, महर्षि है, विजेता है, पापरहित है, स्नातक है और बुद्ध है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१००. पूर्वनिवासं यो वेद स्वर्गापायञ्च पश्यति।

सर्वव्यवसितावसानं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम्॥४२३॥

जो अपने पूर्व जन्म से परिचित है, स्वर्ग और नरक को देखता है, ऐसे पूर्ण ज्ञान में पारग हुए मुनि को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

परिशिष्टम्-३

सहायक-ग्रन्थ-सूची

क्रम संख्या	ग्रन्थनाम	प्रकाशक/टीकाकार/लेखक/ सम्पादक/ वर्ष
१.	अंगुत्तनिकाय	जगदीश काश्यप, नालन्दा-देवनागरी- ग्रन्थमाला, बिहार, १९६०।
२.	अभिधान राजेन्द्रकोश	श्री विजयराजेन्द्र सूरिजी (सात खण्ड), रतलाम, वी०नि० २४५०।
३.	इतिवृत्तक	सम्पादक, भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५९।
४.	ऋग्वेद	प्रकाशक, श्रीपाद सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औन्धनगर, १९४०।
५.	कर्मविपाक	देवेन्द्रसूरि, श्रीतात्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, वी०नि०स० २४४४।
६.	कल्पसूत्र	बम्बई, १९३८ ई. सिवान् १९६८ ई.।
७.	जातिभेद और बुद्ध	भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९४९।
८.	जैन-दर्शन	महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, गणेशप्रसाद वर्णी, जैन सभा, पाटन, सन् १९५६।
९.	जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा	मुनि नथमल, राजस्थान, १९६२।
१०.	जैन धर्म में अहिंसा	डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा, सोहनलाल जैन धर्म प्रचार समिति।
११.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-१ एवं २	डॉ. सागरमल जैन, राजस्थान, १९८२।
१२.	जैन धर्म	पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, भा.दि.जैन संघ, मथुरा, वी.नि.सं. २४७४।

क्रम संख्या	ग्रन्थनाम	प्रकाशक/टीकाकार/लेखक/ सम्पादक/ वर्ष
१३.	जैन साहित्य का इतिहास	कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, बी.नि.सं.. २४८६
१४.	थेरीगाथा	आर. पिशेल, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८३। नालन्दा, देवनागरी संस्करण, १९५९।
१५.	दर्शन और चिन्तन	पं. सुखलाल जी, अहमदाबाद, १९५७।
१६.	दशव्वकालिक	आत्माराम कृत हिन्दी टीका सहित, महेन्द्रगढ़, वि.सं. १९८९।
१७.	दीघनिकाय	अनु. भिक्षु राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशक-भारतीय बौद्ध बुद्ध विहार, १९५८।
१८.	धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त	भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९४९।
१९.	धम्मपद	डा. भिक्षु धर्मरक्षित कृत हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५३।
२०.	पालि साहित्य का इतिहास	डॉ. भरतसिंह उपाध्याय, प्रयाग, सं. २००८, सन् १९७२।
२१.	प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग-१	डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९९०।
२२.	प्रारम्भिक बौद्ध धर्म-दर्शन	डॉ. विजय कुमार जैन, १९९३
२३.	बुद्धचर्या	राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, १९५२
२४.	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरतसिंह उपाध्याय, कलकत्ता, वि.सं. २०११।
२५.	बोधिचर्यावतार	सम्पा. पी.एल. वैद्य, दरभंगा, १९६०, शान्तिदेव, लखनऊ, १९५५।
२६.	बौद्धचर्या-विधि	भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९५६।

क्रम ग्रन्थनाम संख्या	प्रकाशक/टीकाकार/लेखक/ सम्पादक/ वर्ष
२७. मज्झिमनिकाय	सम्पा. वी. ट्रेन्कनर, आर वामर्स एवं श्रीमती रीज डेविड्स, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८८-१९२५। सम्पा. भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, १९५४। हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, १९६५।
२८. महापरिनिब्बानसुत्तं तथा अट्ठकथासार	हिन्दी अनुवाद—भिक्षु धर्मरक्षित, प्रकाशन— बनारस ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वि० सं० २०२६।
२९. महावग्ग	नालन्दा से सम्पादित, १९५६ ई.।
३०. मनुस्मृति	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६५ ई.।
३१. मिलिन्दपन्हो	सम्पादक, अनुवादक—स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, १९९०।
३२. बौद्ध तथा जैन धर्म धम्मपद और उत्तराध्ययनसूत्र का तुलनात्मक अध्ययन	डॉ. महेन्द्रनाथ सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, ई. १९९०।
३३. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, लखनऊ, १९६३।
३४. बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त	भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५८।
३५. बौद्धधर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना, १९५६।
३६. बौद्ध धर्म-दर्शन तथा साहित्य	भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५६।
३७. बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-१ तथा २	भरतिसिंह उपाध्याय, कलकत्ता, वि.सं. २०११।

क्रम संख्या	ग्रन्थनाम	प्रकाशक/टीकाकार/लेखक/ सम्पादक/ वर्ष
३८.	बौद्ध-दर्शन-मीमांसा	आचार्य बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९७८।
३९.	विनयपिटक	सम्पा० एच० ओल्डेनवर्ग, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८७९-८४, सम्पादित। भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, देवनागरी संस्करण, १९५६-५८।
४०.	समणसुत्तं	पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, मुनिश्री नाथमलजी, हिन्दी अनुवाद, पं. वेचरदासजी दोशी - संस्कृत - छाया - परिशोधन, प्रकाशक:-सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९८९।
४१.	संयुक्तनिकाय	सम्पा. ल्योफीयर, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १८८४-१९४०; सम्पा. भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा प्रकाशन, १९५४।
४२.	श्रीमद्भगवद्गीता	गीतप्रेस, गोरखपुर।
४३.	सुत्तनिपात	सम्पा० पी० व्ही० बापट, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९२४, भिक्षु धर्मरत्न, सारनाथ, १९६१।
४४.	सूत्रकृतांग	निर्युक्तिसहित, आगमोदय समिति, बम्बई, १९१७।
४५.	कल्याण (हिन्दु-संस्कृति-अंककृत)	गीतप्रेस, गोरखपुर, १९४९।



लेखिका परिचय

रीति काल के पं. सुखदेव मिश्र के वंशज प्राक् प्राचार्य डा. दुर्गाशंकर मिश्र की पुत्री एवं लोकजीवन में संस्कृत प्रचारक कवि डा. कृष्ण नारायण पाण्डेय [उप-निदेशक (राजभाषा), आकाशवाणी महानिदेशालय, नई दिल्ली] की जीवन संगिनी डा. उमा पाण्डेय (जन्म तिथि 27.12.1952 ई.) प्राचीन इतिहास के क्षेत्र में शोधरत एवं अध्यापन सेवारत हैं।

तपोभूमि कुण्डई गोवा के संत श्री स्वामी ब्रह्मानंद के संरक्षण में शाकाहारी सदाचारी जीवन प्रचारक संस्था मानवता HUMANITY के द्वारा मनुष्य मनुष्य में किसी भी आधार पर भेदभाव न करते हुए पासपोर्ट, वीजा, कस्टम, पेटेण्ट तथा कापीराइट रहित वसुधैव कुटुम्बकम् हेतु अभियान चलाया जा रहा है। प्रतिवर्ष वृक्षारोपण तथा प्रतिदिन शक्य परोपकार की सदस्यता के इस संस्थान की महासचिव प्रबुद्ध लेखिका डा. पाण्डेय की दृष्टि में सामयिक संदर्भ में मध्यम मार्ग है प्रत्येक स्थिति में सर्वत्र समन्वय एवं समायोजन। जल, थल तथा वायु प्रदूषण की तरह विचार प्रदूषण की समाप्ति से ही यह संबोधि सम्भव है—मानवता मानव धर्म : Unity is Humanity। शुभम्।

प्रज्ञा प्रकाशनम् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ-सूची

(डा० कृष्ण नारायण पाण्डेयस्य)

१. स्वयम्बरम् श्रीथ नाटकम्	१९८७	रु० १०/-
२. लोक जीवने संस्कृतम्	१९८९	रु० १०/-
३. रामकथा की ऐतिहासिकता	१९८९	रु० ५/-
४. सांस्कृत्यम् मराठी संस्कृतम्	१९९०	रु० १०/-
५. मानवस्य मूलभाषा	१९९२	रु० १०/-
६. मार्कोपोलो दृष्टि भारतम्	१९९३	रु० १०/-
७. ग्रामे नगरे चने गृहे	१९९४	रु० १०/-
८. मानवता सूत्रम्	१९९४	रु० ५/-
९. प्रज्ञा प्रतिशतम्	१९९४	रु० ५/-
१०. प्रयोजन मूलक हिन्दी यात्रा	१९९४	रु० ५/-
११. मानवता	१९९४	रु० ५/-
१२. वेद शतकम्	१९९४	रु० ५/-
१३. अष्टाध्याय स रामेश्वरम् (यात्रा वृत्तान्त)	१९९४	रु० १०/-
१४. स्वयं चिकित्सा	१९९४	रु० १०/-
१५. मानवता विजयम् (सानुवाद)	१९९५	रु० २५/-
१६. स्नेह सम्वादः (सानुवादः)	१९९६	रु० २८/-
१७. गोस्वामी उपन्यासः	१९९७	रु० १०/-
१८. स्वस्थ संस्कृत जीवनम्	१९९७	रु० ५०/-
संयुक्त लेखिका डा० उमा पाण्डेय		
(उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थानम् द्वारा पुरस्कृतम्)		
१९. भारतस्य प्रसिद्ध पर्यटकाः	१९९७	रु० १०/-
२०. रामायणकालिकेतिहासः	१९९७	रु० ५०/-
(दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृतम्)		
२१. श्री मुक्तिनाथ तीर्थ यात्रा	१९९८	रु० १०/-
२२. हम मानव हैं पृथ्वी वासी	१९९९	रु० १०/-
२३. वसुधैव कुटुम्बकम्	१९९९	रु० २०/-
२४. मानवता यात्रा	१९९९	रु० १००/-

पुस्तक प्राप्ति स्थलम् :-

१. पुस्तक भारती, भारतीय विद्या भवन
कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-११०००१ ॐ ३३८१३६९
२. तपोभूमि कुण्डई, गोवा ॐ ३९५५९०
३. मानवता, ई-१०५२, राजाजीपुरम्, लखनऊ-२२६०१७ ॐ ४१६८९७

प्रज्ञा प्रकाशनम् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ-सूची

(डा० कृष्ण नारायण पाण्डेय)

१. स्वयम्बरम् वीथि नाटकम्	१९८३	₹० १०/-
२. लोक जीवने संस्कृतम्	१९८९	₹० १०/-
३. रामकथा की ऐतिहासिकता	१९८९	₹० ५/-
४. संस्कृतामृतम् मराठी संस्कृतम्	१९९०	₹० १०/-
५. मानवस्य मूलभाषा	१९९२	₹० १०/-
६. मार्कोपोलो दृष्टि भारतम्	१९९३	₹० १०/-
७. ग्रामे नगरे तने गृहे	१९९४	₹० १०/-
८. मानवता सूत्रम्	१९९४	₹० ५/-
९. प्रज्ञा प्रतिशतम्	१९९४	₹० ५/-
१०. प्रयोजन मूलक हिन्दी यात्रा	१९९४	₹० ५/-
११. मानवता	१९९४	₹० ५/-
१२. वेद शतकम्	१९९४	₹० ५/-
१३. अयोध्या से रामेश्वरम् (यात्रा वृत्तान्त)	१९९४	₹० १०/-
१४. स्वयं चिकित्सा	१९९४	₹० १०/-
१५. मानवता विजयम् (सानुवाद)	१९९५	₹० २५/-
१६. स्नेह सम्वादः (सानुवादः)	१९९६	₹० २८/-
१७. गोस्वामी उपन्यासः	१९९७	₹० १०/-
१८. स्वस्थ संस्कृत जीवनम्	१९९७	₹० ५०/-
संयुक्त लेखिका डा० उमा पाण्डेय		
(उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थानम् द्वारा पुरस्कृतम्)		
१९. भारतस्य प्रसिद्ध पर्यटकाः	१९९७	₹० १०/-
२०. रामायणकालिकेतिहासः	१९९७	₹० ५०/-
(दिल्ली संस्कृत अकादमी द्वारा पुरस्कृतम्)		
२१. श्री मुक्तिनाथ तीर्थ यात्रा	१९९८	₹० १०/-
२२. हम मानव हैं पृथ्वी वासी	१९९९	₹० १०/-
२३. वसुधैव कुटुम्बकम्	१९९९	₹० २०/-
२४. मानवता यात्रा	१९९९	₹० १००/-

पुस्तक प्राप्ति स्थलम् :-

१. पुस्तक भारती, भारतीय विद्या भवन

कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-११०००१ ॐ ३३८१३६९

२. तपोभूमि कुण्डई, गोवा ॐ ३९५५९०

३. मानवता, ई-१०५२, राजाजीपुरम्, लखनऊ-२२६०१७ ॐ ४१६८९७